साहित्य

स्थायी मूल्य और मूल्यांकन

साहित्य
स्थायी मूल्य और मूल्यांकन

ास शर्मा

अनुक्रम

स्थायी मूल्य और
मूल्यांकन

१ | साहित्य के स्थायी मूल्य

सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, फिर भी उन परिस्थितियों में रचा हुआ साहित्य हमें अच्छा लगता है। यह तथ्य पेश करके कुछ लेखक मार्क्सवाद को गलत साबित करना चाहते हैं। उनकी दलील यह होती है—मार्क्सवाद मनुष्य के आर्थिक जीवन को बुनियाद मानता है और साहित्य को उसका प्रतिबिम्ब; बुनियाद तो बदल जाती है लेकिन साहित्य कायम रहता है और अपने युग के बाद भी आनन्द देता है।

दिल्ली की 'आलोचना' के सम्पादकीय स्तंभ में साहित्य के स्थायी मूल्यों का प्रश्न उठाया गया है। पिछले युगों का साहित्य क्यों अच्छा लगता है, इसका उत्तर देते हुए संपादक लिखते हैं, "पर साहित्य, विशेष कर उच्च साहित्य, जीवन को जिस समग्रता में ग्रहण करता है, अथवा पूर्णता में अभिव्यक्त करता है, उसकी अपने आप में देश-काल से निरपेक्ष स्थिति हो जाती है।"[1]

सवाल है कि जीवन की पूर्णता कहाँ निवास करती है? वह जीवन कौन-सा है, जो देशकाल से निरपेक्ष होता है? जो देश-काल से निरपेक्ष है, वह देश-काल-सापेक्ष भाषा में अभिव्यक्त कैसे होता है? समग्रता में ग्रहण, पूर्णता में अभिव्यक्ति आदि टुकड़े क्या कोई जन्तर-मन्तर हैं जिनसे साहित्य 'अपने-आप' निरपेक्ष पद, कैवल्य, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लेगा?

संपादक आगे लिखते हैं, "युगीन जीवन की सीमाएँ उसमें प्रत्यक्ष न हों ऐसी बात नहीं, पर वह जीवन के संतुलन का जो आधार ग्रहण करता है, वह युग-युग के मानव में एक प्रकार से समान होता है और इसी संतुलन की सम्पूर्णता को व्यापक अर्थों में सौन्दर्य-बोध भी कह सकते हैं, और यही नया सौन्दर्य-बोध समीक्षा का स्थायी किन्तु निरंतर विकासशील मानदंड बन सकता है, क्योंकि इसी में प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय सम्पन्न हो सकता है।"

---

१. अक्तूबर, ५३

साहित्य के स्थायित्व का यह आधार निकला कि जीवन का एक विशेष लन युग-युग के मानव में समान होता है। यह सतुलन क्या है, किन तत्वों में लन होता है, हर युग के मानव में वह कैसे बना रहता है, यह सब रहस्यमय पर्दे पीछे छिपा हुआ है।

अभी संतुलन के आधार का पता न लगा था कि संतुलन की संपूर्णता और ट हो गयी। सपूर्णता भी मानो असंपूर्ण हो, इसलिए 'संतुलन की संपूर्णता को पक अर्थों में' ग्रहण करने की ज़रूरत पड़ी। इस ग्रहण-क्रिया के बाद जो पल्ले , उसका नाम है, सौन्दर्यबोध। यही साहित्य-समीक्षा का स्थायी मानदंड है, कासशील मानदंड भी है! यह विकास देशकाल से निरपेक्ष किस लोक में होता यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया। *यह प्रयोजन कौन-सा है, प्रेषणीयता किसके* त है, इनका सूक्ष्म समन्वय किस तरह होता है, इन प्रश्नों का भी यहाँ कोई र नहीं है। हाँ, प्रयोजन और प्रेषणीयता, सूक्ष्म समन्वय और सम्पन्न में प्रास-चमत्कार अवश्य है।

१९५० के साल बर्लिन में जो 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' हुई थी, उसमें रीकी लेखक जेम्स टी० फैरेल ने कला के बारे में एक नुस्खा यह भी रखा —"टू एक्स्प्लोर दि नेचर ऑफ सेल्फ़"('आत्म प्रकृति का अन्वेषण')। साहित्य एक स्थायी तत्व और निकला, 'मनुष्य की आत्मान्वेषी वृत्ति'। अब देखिये, लस्ताय के 'वार ऐण्ड पीस' में स्वाधीनता के लिए रूसी जनता का अदम्य संघर्ष त्रित नहीं किया गया, वरन् 'एक विराट् कैनवस पर कितने ही चरित्र आते हैं अपनी जीवन प्रक्रिया में आत्मान्वेषण में तल्लीन हैं।" अर्थात् 'वार ऐण्ड पीस' न्यास क्या है, वैरागियों का बगीचा है जहाँ अनेक जटाधारी साधु-सन्त पद्मासन रे ब्रह्मचिन्तन में लीन हैं।

यह ब्रह्मचिन्तन भी कितना सरस है कि "एक ही व्यक्ति अपने जीवन की *भिन्न घड़ियों में विभिन्न स्तरों पर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियों* अपने आप को पाता और खोता चलता है।"

यह पढ़कर हठात् 'आलोचना' के संपादकीय लेख याद आ जाते हैं। विभिन्न *ड़ियों में और विभिन्न स्तरों पर उनके सम्पादक सन्त साहित्य की मर्यादा और* *र्यों के अन्वेषण में तल्लीन, उन्हें निरन्तर पाते और खोते चलते हैं।* कभी संतुलन [illegible] व्यापक अर्थ हाथ लगते हैं तो कभी प्रयोजन और प्रेषणीयता का दम [illegible] हाथ लगा तो *'विवेक पर आधारित* [illegible] आग्रह' मंत्र का जप शुरू हुआ और कहीं फ़ैरेल को

[illegible] अक्तूबर १९५४, सम्पादकीय)।

फार्मूला दिखाई दे गया तो आत्मान्वेषण की तल्लीनता प्रकट हो गयी ! निःसन्देह पाने और खोने का यह काम जितनी रीतियों से चलता है, उनकी गिनती कठिन है। 'आलोचना' की मोटी जिल्दों का ध्यान करके ही मानो लिखा गया है, "एक सीमाहीन प्रसार है, जिसमे जितने प्रकार के पात्र हैं उतने ही प्रकार की पद्धतियाँ और प्रणालियाँ हैं (कहीं फॅरेल, कहीं बर्नहम, कहीं केस्टलर कहीं गिन्सबर्ग) और उन सबके बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य (सम्पादक मण्डली में धर्मवीर भारती की तरह) उनको वैयक्तिता ('हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है !'), सजीवता ('इन फ़ीरोज़ी ओठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी' !) और सार्थकता ('कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' ज़िंदाबाद !) प्रदान करता है।"

आत्मोपलब्धि का यह सूत्र शुरू होता है तॉल्स्ताय से लेकिन उसकी पूर्ण सिद्धि होती है आगे चल कर—मार्क्सवाद के सचेत विरोधियों में। ताल्स्ताय का हवाला सिर्फ़ इसलिए दिया गया है कि साहित्य मे मार्क्सवाद-विरोध की परपरा आप पहचानें। फ्रांस मे एक तथाकथित अस्तित्ववादियों का गुट है जिसमें "मार्क्सवाद की अन्ध सामूहिकता के विरुद्ध काफी तीखा विद्रोह है।" लेकिन दुर्भाग्य से यह गुट बज़ात खुद "द्वितीय महायुद्ध में पराजित फ्रांस की देन है।" इस गुट के नेता जां पाल सार्त्र हैं। जब वह मार्क्सवाद का विरोध करते थे, अमरीकी प्रचारक उन्हे खूब उछालते थे लेकिन जब से उन्होने शांति के समर्थन में लिखना-बोलना शुरू किया है, तब से वे प्रचारक उन्हें कोसने लगे हैं। आलोचना के सपादक भी सार्त्र के लिए कहते हैं कि इनके पात्रों की 'आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होता है।' इसलिए शुद्ध आत्मोपलब्धि के लिए सम्पादक दूसरी ओर चलते हैं— "जिन क्षेत्रों में चिन्तन-स्वाधीनता है।" "जान स्टीन बेक, ऑर्थर कॉएस्लर और इगनासियो सिलो स्पष्ट रूप में घोषित कर चुके हैं कि अर्द्ध राजनीतिक मतवादों के बजाय मनुष्य की आत्मोपलब्धि क्या साहित्य का केन्द्रीय सत्य है।" ये लेखक कम्युनिस्ट-विरोध और अमरीकी-युद्ध प्रचार मे काफ़ी नाम कमा चुके हैं। यद्यपि उनका युद्ध प्रचार अर्द्ध राजनीतिक नहीं, पूर्ण राजनीतिक मतवाद है; फिर भी वे यह कहने से नहीं चूकते कि कथा-साहित्य का केन्द्रीय सत्य मनुष्य की आत्मोपलब्धि है।

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं, निरपेक्ष रूप से नहीं, सापेक्ष रूप से, देश काल से परे नहीं देश काल की सीमाओं मे निरंतर विकास करती हुई मानवजाति की संचित सांस्कृतिक निधि के रूप में।

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं और मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकासक्रम और जीवन संघर्ष [illegible] उन्हें पाया है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मे [illegible] ंध, स्पर्श आदि के इन्द्रियबोध मनुष्य

र पशु में समान रूप से विद्यमान है लेकिन समान मात्रा में नहीं, समान रूप विकसित नहीं। अपने सामाजिक जीवनकाल में मनुष्य जहाँ पशुओं से न्न स्तर पर विकसित हुआ है, वहाँ उसने अपने इन्द्रियबोध का भी परिष्कार या है। शब्द पर मुग्ध होना, रंग-रूप पर रीझना उसके विवेक का परिचायक । यह विवेक सामाजिक विकास से ही संभव हुआ है, वरना मनुष्यभक्षी जंगली जातियाँ भी श्रेष्ठ संगीतज्ञ और चित्रकार पैदा कर देतीं।

रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता सम्भव है, न साहित्य की। ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति, जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है।"[1] मनुष्य और प्रकृति की यह रूपात्मक एकता साहित्य का मूलाधार है। इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के सहारे कला की सृष्टि—यह अटल नियम मनुष्य के सामाजिक विकास के आदि से चला आ रहा है। मनुष्य के इन्द्रियबोध में आदिकाव्य से लेकर आज तक मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि निर्झरों का संगीत, वन-पर्वत की शोभा, मनुष्य का रूप और यौवन जैसे हजार साल पहले कवियों के लिये आकर्षक था, वैसे आज भी है। और मनुष्य के इस इन्द्रियबोध का निखार हुआ उसके सामाजिक जीवन के कारण। उसके विकास के कारण यह इन्द्रियबोध सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव हुआ है लेकिन वह उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके सामाजिक विकास के साथ आरम्भ नहीं हुआ. वह अपरिष्कृत रूप में उसके साथ पहले से था। इसीलिये उसे सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब मानना गलत है। साथ ही इन्द्रियबोध का परिष्कार सामाजिक विकास-क्रम ही में सम्भव हुआ है, इसलिए वह समाज-निरपेक्ष नहीं है।

मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति और समाज-व्यवस्था के परस्पर संबंधों की व्याख्या करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति सापेक्ष रूप से स्वाधीन है। यह सापेक्ष स्वाधीनता का सिद्धान्त मनुष्य के इन्द्रियबोध की, उसकी सौन्दर्य-वृत्ति की बहुत अच्छी व्याख्या करता है। यह समझना कि समाज-व्यवस्था बदलने के साथ मनुष्य का इन्द्रियबोध भी मूलतः बदल जाता है, निराधार कल्पना है। मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर उसके इन्द्रियबोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इन्द्रिय-बोध फिर भी अपेक्षाकृत स्थायी रहता है।

साहित्य शब्द द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से ज्यादा व्यापक इसीलिये होता है कि उसका सम्बन्ध इन्द्रियबोध से है। उसका माध्यम ही रूपमय है; कल्पना के सहारे वह तरह-

1. आचार्य शुक्ल : रस मीमांसा : पृ० २४६

तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है। उसकी विषय-वस्तु भी रूपमय है। वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने मे हैं। इसलिये मार्क्सवाद, फार्मूलो के अनुसार साहित्य रचने का विरोध करता है, ऐसा साहित्य चित्रमय नही होता, उसके चित्रों मे सजीवता नही होती। उसमे केवल जीवन के निष्कर्ष रहते हैं, जीवन के चित्र नहीं। वह अपनी निजी कलात्मक विशेषता खो देता है।

एगेल्स ने कवि प्लाटेन के बारे मे लिखा था, "प्लाटेन की गलती यह थी कि वह अपनी बुद्धि की उपज को कविता समझता था।"[1] कविता के लिए विचार काफी नही है—प्लाटेन एक श्रेष्ठ विचारक था—उसके लिए चित्रमय कल्पना भी चाहिये।

सामाजिक विकास और इन्द्रियबोध का परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए मार्क्स ने लिखा था: "Only through the objectively unfolding richness of the human being is the richness of subjective human sensuousness, such as a musical ear, an eye for the beauty of form, in short, senses capable of human enjoyment and which prove to be essentially human powers, partly developed and partly created,"

मनुष्य के वस्तुगत समृद्ध विकास से ही यह सम्भव होता है कि उसकी आत्मगत ऐन्द्रियता अंशतः विकसित हो और अंशतः रची जाय, जैसे कि संगीत-प्रेम, रूप की पहचान, मानवीय भोग की क्षमता रखने वाली सभी इन्द्रियाँ, जो मूलत. मानव शक्तियाँ सिद्ध होती हैं।

मनुष्य का इन्द्रियबोध अंशतः विकसित होता है, अंशतः रचा जाता है। मनुष्य की आत्मगत ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।

मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके समूचे विकास का परिणाम है। मार्क्स का कहना है, "पाँचों इन्द्रियो का निर्माण अब तक के समूचे विश्व इतिहास का काम है।"[1] मार्क्स आगे कहते है कि भूख से जिसके प्राण निकल रहे हों, उसके खाने मे और पशु के खाने में क्या अन्तर है, यह कहना कठिन है। परेशान ग़रीब आदमी को सुन्दर से सुन्दर नाटक देखने का चाव नहीं होता। धातुओं का व्यापार करने वाला सिर्फ उनकी बाजारू कीमत देखता है, उनकी मौलिकता और सौन्दर्य नहीं।

१.

इस तरह जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति को कुण्ठित करती हैं। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे उपयोगि वाद के अलावा सौन्दर्य से काम नहीं। लेकिन सौन्दर्य का विरोधी कौन है, वे करोड़ों आदमियों को ग़रीबी और भुखमरी के हवाले करके उनकी सौन्दर्यवृत्ति कुण्ठित कर देते हैं या वे जो उनके लिए भी इन्सान की ज़िन्दगी चाहते हैं, उ अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उस समाज की रचना करते हैं जहाँ मनुष्य की सौन्द वृत्ति कुण्ठित न होकर पल्लवित हो सके? मार्क्सवाद को सौन्दर्य का विरो समझने वाले सज्जन मार्क्स का यह वाक्य ध्यान से पढ़ें :

"Senses limited by crudely practical needs have only *narrow meaning.*"

("वे इन्द्रियाँ जो जीवन को स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित अपनी सार्थकता बहुत कम कर लेती हैं।")

मार्क्सवाद ऐन्द्रियता का विरोधी नहीं है। जीवन में भोग और आनन्द स्थान है; साहित्य में भी उसका स्थान होना चाहिए। कवि वेर्थ के लिए एंगे ने लिखा था कि वह जर्मन मजदूर वर्ग का पहला और सबसे महत्वपूर्ण कवि है फ्राइलीग्राथ से उसकी तुलना करते हुए एंगेल्स ने लिखा था, "दरअसल मौलि कता, व्यंग्य और खास तौर से ऐन्द्रिय उल्लास (सेन्सुअस फ़ायर) में उसकी साम जिक और राजनीतिक कविताएँ फ्राइलीग्राथ से कहीं बढ़ कर हैं।" एंगेल्स ने उ हाइने से भी श्रेष्ठ बतलाया और "स्वाभाविक स्वस्थ ऐन्द्रियता और शारीरि आनन्द की व्यंजना में," केवल गेटे को ही उससे ऊँचा दर्जा दिया।

यद्यपि इन्द्रियबोध मनुष्यों में प्रायः समान है, फिर भी उसका परिष्कार स में एक-सा नहीं होता। ऐसे युग में जब शासक वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका पू कर चुका हो, यह बात बहुत साफ दिखायी देती है कि उसका इन्द्रियबोध अस्व भाविक और अस्वस्थ हो जाता है। एंगेल्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य सत के जन्म का विश्लेषण करते हुए यूनान के शासक वर्ग का जिक्र किया है जिन लिए प्रेम का अर्थ केवल भोग था और जिन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि भोग का विषय नर है या नारी। दासों के स्वामी उस समय तक अपनी ऐतिहासि भूमिका पूरी कर चुके थे। उनका जीवन काहिल, कामचोर, निकम्मे विलासियं का जीवन बन गया था। उनकी इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव उनकी साहि त्यिक रुचि पर भी पड़ा और वह विकृत और अस्वाभाविक होती गयी।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता में नायिकाओं की भरमार प्रकृति-वर्णन के नाम पर घिसे-मिटे अलंकार, दरबारों की उर्दू शायरी में हुस्न और इश्क की आतिशबाज़ी—यह सब सामंती शासक वर्ग की विकृत रुचि का परिचायक है।

यूरोप और अमरीका का पूंजीवादी वर्ग आज मध्यकालीन पतित सामन्ती

ऐन्द्रियता का प्रतिनिधि बन कर उसे और भी विकृत करता जा रहा है। नग्न *स्त्रियों का चित्रण, अस्वस्थ काम चेष्टाएँ, सैडिज्म और मैसोकिज्म जैसी बीमारियाँ,* सनसनीखेज घटनाएँ, हत्या, डकैती के रोमांचक वर्णन—पतनशील वर्ग अब इस तरह की ऐन्द्रियता में रस लेता है। उसकी और जनसाधारण की साहित्यिक रुचि में ऐसी दरार पड़ गयी है जो अब पाटी नहीं जा सकती। इस रुचि के विरुद्ध तमाम प्राचीन संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं को अपना आधार बना कर जनरुचि को विकसित करने का काम यूरोप का मजदूर वर्ग कर रहा है।

मनुष्य के भावों और विचारों का सहज सम्बन्ध उसके इन्द्रियबोध से है। शुक्ल जी ने लिखा है, "आरम्भ में मनुष्य जाति की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गयी है।"[1] मनुष्य के ज्ञान का आधार भौतिक जगत् में उसका *कर्ममय जीवन उसका ऐन्द्रिय अनुभव* और व्यवहार है। इन्द्रियज्ञ ज्ञान के साथ मनुष्य की भाव-सत्ता का भी जन्म होता है। समाज, प्रकृति, परिवार आदि के प्रति मनुष्य की व्यावहारिक अनुभूति के आधार पर उसमें राग-द्वेष पैदा होता है। भाव और इन्द्रियबोध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शुक्लजी के शब्दों में "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है।"

भावों का विकास सामाजिक विकास पर ही निर्भर है। अपने प्रथम अवयव इन्द्रियबोध के रूप में भाव आदिम समाज के मानव में भी मिलेगा, लेकिन अपने परिष्कृत मानवीय रूप में, वह विकसित समाज व्यवस्था में ही सुलभ है। मनुष्य का भाव-जगत् उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उसका इन्द्रियबोध, पर उसके विचार-जगत् से वह अधिक व्यापक है। रति, घृणा, उत्साह आदि के भाव मानव सभ्यता के आदिकाल से चले आ रहे हैं और इन्हें उचित ही स्थायी भाव की संज्ञा दी गयी है। विज्ञान और दर्शन की अपेक्षा साहित्य की व्यापकता का यह दूसरा कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पितृ-सत्ता के उद्भव के बाद से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, पड़ोसियों आदि में जो परस्पर भाव-सम्बन्ध कायम हुए थे—जिनका कारण आदिम समाज व्यवस्था के बाद मानव का विकास था—वे बहुत कुछ अब भी बने हुए हैं। यह भाव-जगत् बराबर समृद्ध होता गया है। मिसाल के लिए सुब्रह्मण्यम् भारती, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द में जो उत्कट देश-प्रेम *मिलता है, वह मध्यकालीन कवियों के लिये दुर्लभ था।* देशभक्ति की भावना का विकास हमारे नये सामाजिक विकास का ही परिणाम है।

कह सकते हैं कि रति-भाव मनुष्य में पहले से है। केवल आलम्बन बदल गया है। प्रेम तो प्रेम, चाहे रंभा और उर्वशी से हो, चाहे शंकर और विष्णु से, चाहे

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद

गंगा और गोदावरी से, चाहे देश और जनता से। इस तर्क से इतना ही सिद्ध होता है कि देश-प्रेम की क्षमता मनुष्य में पहले से थी लेकिन इस क्षमता का उपयोग *आधुनिक युग की ही विशेषता है। यह स्वीकार करना होगा कि हमारा भाव-जगत् सामाजिक विकास के साथ अधिक समृद्ध और परिष्कृत होता गया है।* लेकिन यहाँ भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकने वाले शासक-वर्ग भाव-जगत् को संकीर्ण और विकृत ही करते हैं। १६वीं सदी के आस-पास यूरोप के नव-जागरण से पहले वहाँ के सामन्त वर्ग ने पुरोहितों की सहायता से कला और संस्कृति को रूढ़ियों से जकड़ रक्खा था। उन्हीं दिनों हिन्दी के दरबारी कवियों ने जहाँ चमत्कारवाद, अतिरंजित चित्रण, कृत्रिम भाव-व्यंजना का आश्रय लिया, वहाँ सन्त कवियों ने जन-साधारण के विस्तृत भावजगत् को चित्रित और समृद्ध किया। आधुनिक यूरोप का पूँजीपति वर्ग अपने भावों में कुसंस्कृत और पतित दिखायी देता है। जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ, मनुष्य से घृणा, नयी समाजवादी संस्कृति को कोसना—ये आज के पूँजीवादी भावजगत् की विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत देश-प्रेम, संसार की जनता का भाईचारा, भविष्य *में दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास—ये शोषण से लड़नेवाली और नया समाज रचनेवाली जनता के भावजगत् की विशेषताएँ हैं।* वर्तमान युग में साहित्यकारों के *आशावाद का एक ठोस आधार है—गरीबी और गुलामी के खिलाफ जनता का* संगठन और संघर्ष, एक विशाल भूभाग में मेहनत करनेवालों के नये समाज की रचना। यह ठोस वास्तविकता ही इलियटवादियों के 'अज्ञात' भय का कारण है, यद्यपि उसमें अज्ञात रहस्य जैसी कोई बात नहीं है। ऐसे लोग रोने-कोसने के अलावा और कर ही क्या सकते हैं? उनके भाव जगत् की यही विशेषता है।

भाव जगत् की अपेक्षा मनुष्य के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचार और जल्दी बदलते हैं। पैदावार के तरीके और मनुष्यों के परस्पर आर्थिक सम्बन्धों से इनका गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि शेक्सपियर या तुलसीदास के अनेक विचारों से सहमत न होकर भी पाठक उनके साहित्य में रस लेता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्य में विचारों की भूमिका नगण्य है या उसका सौन्दर्य इन्द्रियबोध और भावों पर ही निर्भर है। साहित्य में मनुष्य के विचारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और इसीलिए स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला और संगीत से उसका स्थान ऊँचा है।

समाज-व्यवस्था के बदलने के साथ, पैदावार का तरीका और मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध बदलने के साथ, उसके विचार भी बदलते हैं; लेकिन नयी विचार-धाराओं का विकास हवा से नहीं होता, वे पहले की विचारधाराओं से अपने लिए बहुत से तत्त्व ग्रहण कर अपना विकास करती हैं। मिसाल के लिए क्रान्तिकारी विचारक मार्क्स ने जर्मन दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद, अंग्रेजी अर्थशास्त्र की अनेक

मान्यताओं को अपनाया, इन सबका मूल्यांकन करके मानव ज्ञानकोष को और समृद्ध किया। सम्पत्तिशाली वर्गों ने भी अपनी क्रान्तिकारी ऐतिहासिक भूमिका के समय ऐसी विचारधाराओं को जन्म दिया जिनके बहुत से तत्व आज भी मूल्यवान हैं। परम्परा और प्रगति का यह सम्बन्ध ध्यान में रखना आवश्यक है। हम पुराने साहित्यकारों से रचना-कौशल, भाव-सौन्दर्य, इन्द्रियबोध का परिष्कार ही नहीं सीख सकते, उनसे विचारधारा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

प्रत्येक युग के प्रमुख विचारों की छाप उस युग के साहित्य पर मिलती है। इन विचारों से मनुष्य के भाव-जगत का गहरा सम्बन्ध होता है। कवियों के भावचित्र, विचारों की ज्योति से दीप्त हो उठते हैं। इसीलिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या है, सामाजिक समस्याओं को वह कैसे समझता है, उन्हें किस तरह हल करता है। उच्च साहित्य में महान् विचारों, गम्भीर भावों और सूक्ष्म इन्द्रियबोध का समन्वय मिलता है, इनका असन्तुलन साहित्य के प्रभाव और उसके कलात्मक सौन्दर्य को कम करता है।

यूरोप और अमरीका का पूँजीपति वर्ग आज बुद्धि के बदले अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता है, अपनी शोषण-व्यवस्था कायम रखने के लिए वह ऐसी विचारधारा का प्रचार करता है जिसका मूल आधार और उद्देश्य है—धोखा। जनता को ठगने के लिए वह सारी दुनिया में व्यक्ति की स्वाधीनता का ठेकेदार बनता है जबकि हकीकत में वह करोड़ों को पगार पानेवाला गुलाम बनाकर रखता है और लाखों को बेकारी में मरने के लिए छोड़ देता है। सत्य से आँख चुरानेवाली विचारधारा किसी में आशा और उत्साह कैसे भर सकती है? इसीलिए उससे प्रभावित लेखकों का मूल स्वर घुटन, निराशा और पराजय का है।

मनुष्य स्वतन्त्र हो, स्वतन्त्रता से रहे, सोचे, लिखे-पढ़े, मध्यकालीन भाग्यवाद के खिलाफ यह विचार सामाजिक प्रगति के साथ-साथ अधिकाधिक जनता में फैलता गया है। 'फ्रीडम फर्स्ट' (सबसे पहले स्वतन्त्रता) वाले प्रचारक इस विचार का बड़ा तूमार बाँधते हैं; कहते हैं, समाजवादी देशों में इन्सान गुलाम है, उसकी स्वाधीनता के हिमायती हम हैं। मार्क्स ने लिखा था :

"The first freedom of the press consists in its not being a business."

प्रेस की पहली आजादी उसके व्यापार न होने में है।

पूँजीवादी समाज में प्रेस बराबर रुपया कमाने का साधन होता है और इसीलिए बड़े-बड़े पूँजीपति उसी तरह की विचारधाराओं को प्रोत्साहन देते हैं जो धन-संचय की पद्धति का किसी न किसी तरह समर्थन करता हो। समाजवादी व्यवस्था में प्रेस पैसा बटोरने की मशीन नहीं है, उसका काम का मनोरंजन करना नहीं है; सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर

चित्रों और छन्दों में गरिमा, उदात्त भावव्यंजना के अनुकूल शिल्प की भव्यता। एक ही छंद का प्रयोग करने पर भी गति और शब्द-संगीत में अंतर है। पश्चिम के पूँजीवादी लेखक रूप के विचार से भी अब श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं दे पाते। उनकी विचार शृंखला टूटी हुई, चित्र भाव-शून्य, कथानक और चरित्र सामंजस्य-हीन, भाषा अस्वाभाविक और दुर्बोध—उनके शिल्प की ये विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत वे सभी लेखक जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते हैं, अपनी लोक-मंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुन्दर शिल्प का निर्माण भी करते हैं।

ऊपर के विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं—

साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं; इन्द्रिय-बोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इन्द्रियबोध और भावजगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है। यही कारण इस बात का भी है कि पुराने साहित्य की सभी बातें समान रूप से अच्छी नहीं लगती। सबसे ज्यादा मतभेद खड़ा होता है, विचारों को लेकर, उसके बाद भावों को, और सबसे पीछे और सबसे कम इन्द्रियबोध को लेकर। हमारी साहित्यिक रुचि स्थिर न होकर विकासमान है; पुराना साहित्य अच्छा लगता है लेकिन उसी तरह नहीं जैसे पुराने लोगों को अच्छा लगा था। इसलिए मनुष्य अपनी नयी रुचि के अनुसार नये साहित्य का भी सृजन करता है।

सामाजिक विकास-क्रम में सम्पत्तिशाली वर्गों ने एक समय अनिवार्य भूमिका पूरी की है, फिर विकास-पथ में बाधा बन गये हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। यूरोप का वही पूँजीपति वर्ग जो कभी तर्कसंगत ज्ञान, व्यक्ति की स्वाधीनता और नयी सौन्दर्य-वृत्ति के लिए लड़ा था, आज इनका शत्रु हो गया है, अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को मिटाने पर तुला हुआ है। विश्व में यह पूँजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता का अभ्युदय काल। इस कारण आज श्रमिक वर्ग मनुष्य की तमाम सांस्कृतिक निधि की रक्षा करना चाहता है, पूँजीपति वर्ग द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मूल्यों का रक्षक भी वही है जब कि शासक वर्ग, आसन्न मृत्यु से आतंकित होकर, भय, निराशा, पराजय, मानव-द्रोह और हिंसा की वृत्तियों का ही पोषक बनता जा रहा है। इसी कारण सचेत लेखक

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद।

चित्रों और छन्दों में गरिमा, उदात्त भावव्यंजना के अनुकूल शिल्प की भव्यता। एक ही छंद का प्रयोग करने पर भी गति और शब्द-संगीत में अंतर है। पश्चिम के पूँजीवादी लेखक रूप के विचार से भी अब श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं दे पाते। उनकी विचार शृंखला टूटी हुई, चित्र भाव-शून्य, कथानक और चरित्र सामंजस्य-हीन, भाषा अस्वाभाविक और दुर्बोध---उनके शिल्प की ये विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत वे सभी लेखक जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते हैं, अपनी लोक-मंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुन्दर शिल्प का निर्माण भी करते हैं।

ऊपर के विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं—

साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं; इन्द्रिय-बोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इन्द्रियबोध और भावजगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है। यही कारण इस बात का भी है कि पुराने साहित्य की सभी बातें समान रूप से अच्छी नहीं लगतीं। सबसे ज्यादा मतभेद खड़ा होता है, विचारों को लेकर, उसके बाद भावों को, और सबसे पीछे और सबसे कम इन्द्रियबोध को लेकर। हमारी साहित्यिक रुचि स्थिर न होकर विकासमान है; पुराना साहित्य अच्छा लगता है लेकिन उसी तरह नहीं जैसे पुराने लोगों को अच्छा लगा था। इसलिए मनुष्य अपनी नयी रुचि के अनुसार नये साहित्य का भी सृजन करता है।

सामाजिक विकास-क्रम में सम्पत्तिशाली वर्गों ने एक समय अनिवार्य भूमिका पूरी की है, फिर विकास-पथ में बाधा बन गये हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। यूरोप का वही पूँजीपति वर्ग जो कभी तर्कसंगत ज्ञान, व्यक्ति की स्वाधीनता और नयी सौन्दर्य-वृत्ति के लिए लड़ा था, आज इनका शत्रु हो गया है, अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को मिटाने पर तुला हुआ है। विश्व में यह पूँजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता का अभ्युदय काल। इस कारण आज श्रमिक वर्ग मनुष्य की तमाम सांस्कृतिक निधि की रक्षा करना चाहता है, पूँजीपति वर्ग द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मूल्यों का रक्षक भी वही है जब कि शासक वर्ग, आसन्न मृत्यु से आतंकित होकर, भय, निराशा, पराजय, मानव-द्रोह और हिंसा की वृत्तियों का ही पोषक बनता जा रहा है। इसी कारण सचेत लेखक

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद।

२ | मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन

समाज को समझने और बदलने तथा शोषणहीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है। यह व्यवस्था हवा मे नही बनती; प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्वपूर्ण योग भी उसमे होता है। इन पुराने उपकरणों को बनाने में विभिन्न वर्गों का योग हो सकता है; यह आवश्यक नही कि शोषक-वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है, वे सभी शोषणमुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हों। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम के अनुसार—न कि अपनी आवश्यकता के अनुसार—पारिश्रमिक मिलता है। मार्क्स और लेनिन ने इसे पूँजीवादी नियम बताया है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण शोषण मुक्त मानव भी इस पूँजीवादी नियम से अपना पीछा नही छुडा पाता। यदि आर्थिक क्षेत्र मे पूँजीवादी नियम को तुरत ठुकराया नही जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र मे तो और भी सँभलकर कदम रखना आवश्यक होता है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन मे हमे मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नही रह गए। हम उन तत्वो को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नही थे, या उपयोगी थे तो कुछ सम्पत्तिशाली लोगो के लिए ही थे और जिन्हें उस काल की ऐतिहासिक सीमाएँ देखते हुए भी प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। हम विभिन्न मूल्यो के निर्माण मे विभिन्न वर्गों की भूमिका देखते हैं, यह देखते हैं कि किसी युग विशेष मे किसी वर्ग-विशेष की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी, और उसके अनुरूप उस वर्ग द्वारा निर्मित मूल्य जनता के लिए उपयोगी थे अथवा हानिकर। विभिन्न वर्ग एक ही समाज-व्यवस्था मे रहने के कारण एक-दूसरे को प्रभावित करते

ामाजिक विकास की समस्याओं के प्रति उदासीन होकर शान्ति, स्वाधीनता, ग्नतन्त्र और जातीय संस्कृति के लिए संघर्ष करते हैं। आज के युग की परिधि ं वे अब तक के संचित मानव मूल्यों की रक्षा करते हैं; इसी मार्ग पर चलकर ं इन मूल्यों को और भी समृद्ध करके अगले युगों को एक महान विरासत के रूप ं छोड़ जायेंगे।

२ मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन

समाज को समझने और बदलने तथा शोषणहीन समाज-व्यवस्था का निर्माण
करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है। यह व्यवस्था हवा में नहीं बनती;
प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्वपूर्ण योग भी उसमें होता है। इन पुराने
उपकरणों को बनाने में विभिन्न वर्गों का योग हो सकता है; यह आवश्यक नहीं
कि शोषक-वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है, वे सभी
शोषणमुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हों। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था
में प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम के अनुसार—न कि अपनी आवश्यकता के अनु
सार—पारिश्रमिक मिलता है। मार्क्स और लेनिन ने इसे पूंजीवादी निय
बताया है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण शोषण मुक्त मानव भी इस पूंजी
वादी नियम से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता। यदि आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवा
नियम को तुरत ठुकराया नहीं जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र में
और भी सँभलकर कदम रखना आवश्यक होता है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है
हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देख
उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्वों को पहचान सकते हैं
प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गए। हम
तत्वों को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नहीं थे
उपयोगी थे तो कुछ सम्पत्तिशाली लोगों के लिए ही थे और जिन्हें उस काल
ऐतिहासिक सीमाएँ देखते हुए भी प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। हम वि
मूल्यों के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भूमिका देखते हैं, यह देखते हैं कि किस
विशेष में किसी वर्ग-विशेष की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी,
उसके अनुरूप उस वर्ग द्वारा निर्मित मूल्य जनता के लिए उपयोगी थे
हानिकर। विभिन्न वर्ग एक ही समाज-व्यवस्था में रहने के कारण एक-दूस
प्रभावित करते हैं; उनकी वर्ग-संस्कृति को परखते हुए इस परस्पर प्रभ

भी देखना होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है, सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्वों की टकराहट की विषम भूमि पर भी यह विकास होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य ने जब वन्य-जीवन छोड़कर नागरिक जीवन बिताना आरम्भ किया तब अनेक नये मूल्यों की प्राप्ति के साथ उसने अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने मूल्यों को भी छोड़ दिया। इस तथ्य को एंगेल्स ने 'व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य-सत्ता का उद्भव' नाम की पुस्तक में स्पष्ट कर दिया है। मार्क्स और एंगेल्स साहित्य के उत्कट प्रेमी थे। शेक्सपियर और बाल्ज़ाक की रचनाओं में उन्हें विशेष रुचि थी। बाल्ज़ाक की विचारधारा प्रतिक्रियावादी थी, फिर भी १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में वह यूरोप का सबसे बड़ा उपन्यासकार था। उसने शासक-वर्ग और सम्पत्तिशाली जनों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया और वह विषयवस्तु दी जो उसकी विचारधारा के विरुद्ध पड़ती थी। इस तरह मार्क्स ने साहित्यकारों के अन्तर्विरोधों को समझना सिखाया। उसी पद्धति से लेनिन ने तॉल्सताय के विचारों को निष्क्रियता और अन्धविश्वासों को प्रश्रय देने वाला कहते हुए उनके साहित्य को प्राचीन न्याय-व्यवस्था और अनेक रूढ़ियों की सबसे तीखी आलोचना बताया।

साहित्य बुद्धिविरोधी सृष्टि नहीं है किन्तु उसका सम्बन्ध बुद्धि से ही नहीं है। वह मनुष्य के सचेत चिन्तन का ही परिणाम नहीं है; उसका गहरा सम्बन्ध मनुष्य के उपचेतन संस्कारों से भी होता है। व्यवहार-क्षेत्र में मार्क्सवाद संस्कारों पर बहुत अधिक बल देता है। जो अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुए हैं और उस वर्ग के संस्कारों में पले हैं, उनके लिए मार्क्सवाद की बौद्धिक स्वीकृति काफी नहीं है, उन्हें अपने को आमूल परिवर्तित करना आवश्यक होता है जो एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया है। मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों के लेखों में इसी कारण जनता से एकात्म होने, सर्वहारा दर्शन के साथ सर्वहारा मनोबल को अपनाने पर ज़ोर दिया जाता है। मनुष्य के ये संस्कार सदा उसके सचेत चिन्तन से टकरायें, यह आवश्यक नहीं। दोनों में अन्तर्विरोध के बदले परस्पर सहयोग भी हो सकता है। साथ ही दोनों में टक्कर होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक के स्वीकृत विचारों को ही न परखकर हम उसके संस्कार के आधारों पर निर्मित साहित्य का मूल्यांकन भी करें।

इस प्रकार समाज और साहित्य का सम्बन्ध प्राचीन मूल्यों और नये मूल्यों का सम्बन्ध सीधा और सरल न होकर संश्लिष्ट और पेचीदा होता है। इस सत्य के विपरीत मार्क्सवाद के सम्बन्ध में आम धारणा यह है : प्राचीन साहित्य

शोषक वर्गों के हित में उनके चाकरों द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है; साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जायगा; सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि में यह साहित्य कलात्मक सौंदर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।

इस तरह की धारणा मार्क्सवाद से अनभिज्ञ कुछ साधारण साहित्य-प्रेमियों ही में नहीं मिलती, उसके दर्शन मार्क्सवाद के अनेक पण्डितों में भी होते हैं। इनकी आलोचना-शैली की एक विशेषता है। वे किसी विशेष विचार-धारा के समर्थन या विरोध में बहुत-से उद्धरण बटोर लेंगे, फिर उनके आधार पर वे किसी साहित्यकार को प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी घोषित कर देंगे। उदाहरण के लिए महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने सन् १६३८ के लगभग छायावाद के आकाश से प्रगतिवाद की धरती पर उतरने की घोषणा की। यद्यपि वह स्वयं मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय की बात करते थे, फिर भी उनके समर्थकों ने उन्हें मार्क्सवादी लेखक के रूप में ही पेश किया। इसके सिवा मार्क्सवादी या समन्वय-वादी होने के साथ पन्तजी कवि भी बने हुए हैं कि नहीं, इसकी ओर 'पन्त प्रगति के पथ पर' के लेखकों ने ध्यान नहीं दिया। कविता न तो विचार-शून्य होती है, न वह विचारधारा-मात्र होती है। विचार में भाव के पंख लगने चाहिए और भावों के साथ इन्द्रियबोध की तरलता होनी चाहिए। भाव-विह्वलता और इन्द्रियबोध के परिष्कार के बिना कविता क्या? इनके अभाव में हमारे मित्रों ने पन्तजी की विचारधारा से—जो अपने में बहुत उलझी हुई भी थी—उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिपथगामी सिद्ध कर दिया। छायावाद की उपलब्धियाँ उनके लिए नगण्य थीं, इसलिए कि उनमें पन्तजी की-सी विचारधारा का अभाव था। छायावाद ने 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास', 'गीतिका', 'दीपशिखा', 'पल्लव'—हाँ, 'पल्लव' भी—के रूप में भारतीय जनता के भावों, विचारों और सौन्दर्य-बोध को कितना परिष्कृत किया है, इसका लेखा-जोखा इन मित्रों के यहाँ नहीं था। प्रगतिवाद का शिलान्यास करते हुए श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस सम्बन्ध में 'विशाल भारत' में लिखा था, "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।" इस तरह के—या सारतत्त्व यही किन्तु कोमल शैली में लिखे हुए—वाक्य पढ़कर यदि पाठक यह धारणा बनाएँ कि मार्क्सवाद हमारी संस्कृति का शत्रु है तो इसमें आश्चर्य क्या?

वर्ग और सम्पत्ति से संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ने के अनूठे उदाहरण हमें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं में मिलते हैं। उन्हें वेदों में ओजपूर्ण काव्य नहीं मिलता, उन्हें वहाँ वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा, आर्य-अनार्य रक्त का

भी देखना होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है, सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्त्वों की एकता की विषम भूमि पर भी यह विकास होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य ने जब वन्य-जीवन छोड़कर नागरिक जीवन बिताना आरम्भ किया तब अनेक नये मूल्यों की प्राप्ति के साथ उसने अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने मूल्यों को भी छोड़ दिया। इस सत्य को एंगेल्स ने 'व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य-सत्ता का उद्भव' नाम की पुस्तक में स्पष्ट कर दिया है। मार्क्स और एंगेल्स साहित्य के उत्कट प्रेमी थे। शेक्सपियर और बाल्ज़ाक की रचनाओं से उन्हें विशेष रुचि थी। बाल्ज़ाक की विचारधारा प्रतिक्रियावादी थी, फिर भी १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में वह यूरोप का सबसे बड़ा उपन्यासकार था। उसने शासक-वर्ग और सम्पत्तिशाली जनों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया और वह विषयवस्तु दी जो उसकी विचारधारा के विरुद्ध पड़ती थी। इस तरह मार्क्स ने साहित्यकारों के अन्तर्विरोधों को समझना सिखाया। उसी पद्धति से लेनिन ने तॉल्स्ताय के विचारों को निष्क्रियता और अन्धविश्वासों को प्रश्रय देने वाला कहते हुए उनके साहित्य को प्राचीन न्याय-व्यवस्था और अनेक रूढ़ियों की सबसे तीखी आलोचना बताया।

साहित्य बुद्धिविरोधी सृष्टि नहीं है किन्तु उसका सम्बन्ध बुद्धि से ही नहीं है। वह मनुष्य के सचेत चिन्तन का ही परिणाम नहीं है; उसका गहरा सम्बन्ध मनुष्य के उपचेतन संस्कारों से भी होता है। व्यवहार-क्षेत्र में मार्क्सवाद संस्कारों पर बहुत अधिक बल देता है। जो अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुए हैं और उस वर्ग के संस्कारों में पले हैं, उनके लिए मार्क्सवाद की बौद्धिक स्वीकृति काफी नहीं है, उन्हें अपने को आमूल परिवर्तित करना आवश्यक होता है जो एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया है। मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों के लेखों में इसी कारण जनता से एकात्म होने, सर्वहारा दर्शन के साथ सर्वहारा मनोबल को अपनाने पर ज़ोर दिया जाता है। मनुष्य के ये संस्कार सदा उसके सचेत चिन्तन से टकरायें, यह आवश्यक नहीं। दोनों में अन्तर्विरोध के बदले परस्पर सहयोग भी हो सकता है। साथ ही दोनों में टक्कर होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक के स्वीकृत विचारों को ही न परखकर हम उसके संस्कार के आधारों पर निर्मित साहित्य का मूल्यांकन भी करें।

इस प्रकार समाज और साहित्य का सम्बन्ध प्राचीन मूल्यों और नये मूल्यों का सम्बन्ध सीधा और सरल न होकर संश्लिष्ट और पेचीदा होता है। इस सत्य के विपरीत मार्क्सवाद के सम्बन्ध में आम धारणा यह है : प्राचीन साहित्य

शोषक वर्गों के हित में उनके चाकरों द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है; साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जायगा; सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि में यह साहित्य कलात्मक सौन्दर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।

इस तरह की धारणा मार्क्सवाद से अनभिज्ञ कुछ साधारण साहित्य-प्रेमियों ही में नहीं मिलती, उसके दर्शन मार्क्सवाद के अनेक पण्डितों में भी होते हैं। इनकी आलोचना-शैली की एक विशेषता है। वे किसी विशेष विचार-धारा के समर्थन या विरोध में बहुत-से उद्धरण बटोर लेंगे, फिर उनके आधार पर वे किसी साहित्यकार को प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी घोषित कर देंगे। उदाहरण के लिए महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने सन् १९३८ के लगभग छायावाद के आकाश से प्रगतिवाद की धरती पर उतरने की घोषणा की। यद्यपि वह स्वयं मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय की बात करते थे, फिर भी उनके समर्थकों ने उन्हें मार्क्सवादी लेखक के रूप में ही पेश किया। इसके सिवा मार्क्सवादी या समन्वय-वादी होने के साथ पन्तजी कवि भी बने हुए हैं कि नहीं, इसकी ओर 'पन्त प्रगति के पथ पर' के लेखकों ने ध्यान नहीं दिया। कविता न तो विचार-शून्य होती है, न वह विचारधारा-मात्र होती है। विचार में भाव के पंख लगने चाहिए और भावों के साथ इन्द्रियबोध की तरलता होनी चाहिए। भाव-विह्वलता और इन्द्रियबोध के परिष्कार के बिना कविता क्या? इनके अभाव में हमारे मित्रों ने पन्तजी की विचारधारा से—जो अपने में बहुत उलझी हुई भी थी—उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिपथगामी सिद्ध कर दिया। छायावाद की उपलब्धियाँ उनके लिए नगण्य थीं, इसलिए कि उनमें पन्तजी की-सी विचारधारा का अभाव था। छाया-वाद ने 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास', 'गीतिका', 'दीपशिखा', 'पल्लव'— हाँ, 'पल्लव' भी—के रूप में भारतीय जनता के भावों, विचारों और सौन्दर्य-बोध को कितना परिष्कृत किया है, इसका लेखा-जोखा इन मित्रों के यहाँ नहीं था। प्रगतिवाद का शिलान्यास करते हुए श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस सम्बन्ध में 'विशाल भारत' में लिखा था, "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।" इस तरह के—या सारतत्त्व यही किन्तु कोमल शैली में लिखे हुए—वाक्य पढ़कर यदि पाठक यह धारणा बनाएँ कि मार्क्सवाद हमारी संस्कृति का शत्रु है तो इसमें आश्चर्य क्या?

वर्ग और सम्पत्ति से संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ने के अनूठे उदाहरण हमें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं में मिलते हैं। उन्हें वेदों में ओजपूर्ण काव्य नहीं मिलता, उन्हें वहाँ वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा, आर्य-अनार्य रक्त का

ाण और समाज की मर्यादा उड़ाने वाले ऋषि मिलते हैं। राहुल जी वैदिक यों का उल्लेख सम्मान के साथ तभी करते हैं, जब उन्हें निषिद्ध मांस-भक्षण ामर्थन करना होता है। इस आवश्यकता के न होने पर उनकी शैली कुछ इस र की होती है—"जिन ग्रन्थों में अछूतपन की बात भरी पड़ी है और जिन -मुनियों ने अपने आश्रमों के आस-पास मनुष्य नामधारी दास-दासियों के र सहस्राब्दियों तक अमानुषिक अत्याचार होते देखकर भी अपनी तपस्या भंग की, उनके ग्रन्थ अछूतोद्धार के बाधक छोड़ साधक कैसे हो सकते हैं ?"[1]

वेदों तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा किस सीमा तक , उस युग में इस तरह की व्यवस्था आवश्यक थी या अनावश्यक, वर्ण-व्यवस्था अलावा उनमें और कौन-सी मूल्यवान सामग्री है, राहुल जी इसका विश्लेषण ावश्यक नहीं समझते। वाल्मीकि और कालिदास भी राजाओं की प्रशस्तियाँ ाने वाले कवि थे। एक ही ढेले से दोनों महाकवियों का शिकार करते हुए हापण्डित ने 'सुवर्णयौधेय' में लिखा, "कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि ुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के। और शुंगवंश की राजधानी की महिमा बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की वैसे ही जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमार गुप्त की।"

इसी न्याय से तुलसीदास का भाग्य-निर्णय करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने किसी समय लिखा था, "हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी ने रघु-कुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्य-सत्ता को भारी सहारा दिया।" तुलसी के साथ सूर को भी जोड़कर उन्होंने चुने हुए उपमानों से अपने वाक्य का कलात्मक सौंदर्य बढ़ाते हुए अन्यत्र लिखा था, "हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचार-दर्शन (विचार-दर्शन का जो भी अर्थ हो!) को आज नहीं अपना सकते; उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडो' के समान अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध उनके काव्य का जन-सुलभ रूप आदि अनेक तत्त्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।" यह भी गनीमत है कि सूर-तुलसी से कम-से-कम जनता से प्रेम का अमूल्य तत्त्व गुप्त जी को मिला। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी धारणाओं को काफी बदला है, यह उल्लेखनीय है।

किन्तु अन्य 'मार्क्सवादी' लेखकों को तुलसीदास में जनता से प्रेम की जगह

---

१. 'दिमागी गुलामी', : पृ० १५

सवर्ण हिन्दुओं में भी ब्राह्मणों से विशेष प्रेम दिखाई देता है। यशपाल जी ने मार्क्सवाद पर पुस्तक लिखी है और तुलसीदास की विचारधारा का विश्लेषण भी किया है। कबीर से तुलसी की भिन्नता दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है, "तुलसी का भक्ति-मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।"[1]

'रामचरितमानस' का मूल तत्त्व क्या है ? यशपाल जी का कहना है, "वर्ण-व्यवस्था के समर्थन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता और स्वामी-वर्ग के अधिकारों के समर्थन को जो स्थान 'रामचरितमानस' में दिया गया है, वही उसका मुख्य अंग है।" इस तरह की गम्भीर व्याख्या यशपालजी से पहले डॉ० रांगेय राघव कर चुके थे। "तत्कालीन उच्च वर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह गलती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूठन बीनकर खानेवाला तुलसीदास अपने जीवन-काल में ही उन्हीं उच्च वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।"[2]

अब कठिनाई यह है कि उस समय तो तुलसी उच्च वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, लेकिन आज वह भारतीय जनता—विशेषकर हिन्दी-भाषी जनता—के हृदय पर आसन जमाये हुए है। उसे हटाये बिना हमारे मित्र जो नया साहित्य रच रहे हैं, उसकी प्रतिष्ठा कैसे हो ? खोट दरअसल जनता में है, इसीलिए तुलसी को जनता के हृदय-सिंहासन से हटाने के लिए हमारे मित्र भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इस जनता का पहला कसूर यह है : "देश की सर्व-साधारण जनता ने 'राम-चरितमानस' को काव्य की अपेक्षा शास्त्र के रूप में अधिक मान्यता दी है।" और आलोचक क्या करते हैं ? वे भी 'रामचरित मानस' को शास्त्र समझकर उससे अनेक दोहे-चौपाइयाँ उद्धृत करके उसे ब्राह्मण-धर्म का समर्थक-शास्त्र सिद्ध करते हैं। उनके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं; उठते ही नहीं हैं, "हमारे मन और मस्तिष्क में उपस्थित प्रश्न सिर उठाए बिना नहीं रह सकते।" अत: 'रामचरित-मानस' को शास्त्र मानकर उन्हें उसका विवेचन करना ही पड़ता है, यद्यपि इसकी जिम्मेदारी आलोचकों पर नहीं जनता पर है। जनता भी क्या करे ? इतिहास ने उसे अशिक्षित और अन्ध-विश्वासी बना दिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में यशपाल जी कहते हैं, "रामचरितमानस एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण शिक्षा की प्रगति से विहीन सर्वसाधारण की एकमात्र कला-निधि और नैतिक शास्त्र बन गया।" यह कलानिधि सवर्ण हिन्दुओं के पल्ले ही पड़ी; 'सर्वसाधारण'

---

१. 'नया पथ', १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम की पुण्य स्मृति में, जुलाई-अगस्त, १९५७।

२. 'आलोचना', ५।

के नाते वे मानव [illegible] हृदयहीनता की ओर [illegible] है, ऐसा कोई दिखता नहीं है।

इस ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाते जनता की शक्तियों के द्वारा [illegible] से तुलसीदास की कथा किस प्रकार प्रभावित हुई, इस पर ध्यान देकर जनता की क्षमता का [illegible] चाहिए। आधुनिक आलोचना में [illegible] और [illegible] वर्गों [illegible] करते होते हैं [illegible] तुलसी के [illegible] को स्वीकार करना पड़ता है कि 'रामचरितमानस' [illegible] बहुत बड़ी जनता को अधिकार वंचित करके भी उन्हें सीता की तरह [illegible] की सीमाओं से परे सम्पूर्ण मानव [illegible] का उत्कर्ष है।"

सीता की समस्या की आँधी झकोर से बाहर निकलने में यशपालजी अकेले नहीं हैं। उनके साथ भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी हैं। भदन्तजी मार्क्सवादी नहीं, बौद्ध भिक्षु हैं, किन्तु ऊपर कही हुई संस्कारों की बात याद कीजिए। अपने ब्राह्मण-विरोधी संस्कारों के बल पर वे सहज प्रगतिशील हैं और 'रामचरितमानस' का विश्लेषण करते हुए उसी भूमि पर पहुँचे हैं जहाँ यशपालजी अपने सचेत चिन्तन से [illegible] हैं। उन्होंने तुलसीदास को ब्राह्मणवाद का समर्थक सिद्ध करने के लिए 'नया पथ' में 'रामचरितमानस' से अनुकूल पंक्तियों का एक संकलन प्रकाशित किया था। इस उद्धरणमाला से जो निष्कर्ष निकला, वह यह कि तुलसीदास के इस ग्रन्थ में राम से अधिक ब्राह्मणों का महत्त्व घोषित किया गया है। यशपालजी भदन्तजी के सहज ज्ञान का हवाला देते हुए कहते हैं, "भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह कहना कि 'रामचरितमानस' में राम की अपेक्षा ब्राह्मण का ही महत्त्व अधिक है, न अनुचित है, न अतिरंजना।" इसका कारण यह भी है कि विषय में जो उद्धरण दिये गए हैं, उनकी तुलना में भदन्तजी के उद्धरण "संख्या में कहीं अधिक, सुस्पष्ट, सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद हैं।" ऐसा लगता है कि उद्धरणों की संख्या देखकर यशपालजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने 'रामचरितमानस' पढ़ना भी आवश्यक नहीं समझा। कथा में उल्लिखित किसी भी परिस्थिति और किसी भी पात्र का विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। 'रामचरितमानस' को शास्त्र समझकर भदन्तजी द्वारा बटोरे हुए उद्धरणों से ही उन्होंने सन्तोष कर लिया।

एक चरित्र और एक घटना का हवाला यशपालजी ने अवश्य दिया है। वह चरित्र है शंबूक का, और घटना है राम द्वारा उसके वध की। मेरे एक निबंध में यह पढ़कर कि तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती, यशपालजी ने किंचित् रोष के साथ लिखा है, "ऐसी अनर्गल बात कहते समय वे राम द्वारा मुक्तिकामी शंबूक के वध की बात भूल गए।" शंबूक की घटना उन्हें विशेष प्रिय है; इससे अधिक तुलसी के अन्धे-ब्राह्मण-प्रेम का उदाहरण और क्या होगा? इसलिए तुलसी के साथ उनके अकिंचन

भक्त का भी उद्धार करते हुए उन्होंने पुन. लिखा, "वे यह भूल गए कि तुलसी के मन में शूद्र का वेद पढ़ने और ब्राह्मण से समता करने की इच्छा और नारी की स्वतन्त्रता पाप और कलयुग के प्रभाव का मुख्य लक्षण था, जिसके निवारण के लिए भगवान् को खड्ग हाथ में लेना पड़ा था।" नारी की स्वतन्त्रता के सिलसिले में यशपालजी को यह और जोड़ देना चाहिए कि धोबी की बात सुनकर राम ने पराधीन सीता को वनवास दे दिया था। या शायद धोबी की बात सुनकर सीता को निकालना राम का प्रगतिशील कार्य ठहरता, इसलिए यशपाल जी ने उसका हवाला नहीं दिया।

किसी की रचना पढ़े बिना, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर या कल्पना के बल पर आलोचना लिख देना कोई अद्भुत काम नहीं है। किन्तु 'नया पथ'-जैसे पत्र के सम्पादकीय स्तम्भ में 'ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन' के नाम पर उपर्युक्त कोटि के तर्क अवश्य अद्भुत हैं। यह बात नहीं है कि यशपालजी तुलसी का महत्त्व अस्वीकार करते हों। उनकी दृष्टि में विश्व-साहित्य के सौर-जगत् में तुलसी एक विराट् नक्षत्र है। उनके चिरन्तन मूल्य कला-पक्ष की रसानुभूतियों में हैं। रस भी देखिये कितने हैं "शैशव, वात्सल्य, सहज-शृंगार, प्रेम, शोक, सहानुभूति, रौद्र आदि रसों का जैसा परिपाक उन्होंने किया है, वह अपने में अनूठा है।" परिपाक से निकलने वाले मूल्य तो चिरन्तन हुए; कुछ अचिरन्तन मूल्य नैतिक भी है। तुलसी ने सवर्ण हिन्दुओं की एकता के लिए जो प्रयत्न किया उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह काम भी महत्त्वपूर्ण था। यशपालजी का कहना है कि "उन्होंने राम-भक्ति द्वारा हिन्दू-संस्कृति की बहु-देव-पूजा का समुच्चय कर हिन्दू जातीय एकता द्वारा और वेद-विहित वर्णाश्रम धर्म की संस्कृति की रक्षा में सहायता कर बहुत बड़ा काम किया।" दूसरा काम उन्होंने यह किया कि "उनके भक्ति-मार्ग ने हिन्दू सामन्तशाही को मुस्लिम सामन्तशाही से लोहा लेने में सहायता दी।" ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन करने पर तीन तथ्य निकले: तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखकर वर्ण-व्यवस्था को दृढ़ किया, इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की और कला-पक्ष में शैशव-सहानुभूति आदि रसों का परिपाक किया। इनमें पहले दो तथ्यों को रूढ़िवादी आलोचक ऐतिहासिक दृष्टि के बिना भी बहुत दिनों से मान रहे थे; यशपालजी ने इजाफा किया है रस-परिपाक के मौलिक चिन्तन में।

तुलसीदास की विचारधारा को समझने के लिए 'रामचरितमानस' के साथ उनके अन्य ग्रन्थों का भी तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरितमानस' में वर्णाश्रम-धर्म या अन्य किसी प्रश्न पर उद्धरण एकत्र करने के साथ मूल कथा की परिस्थितियों और पात्रों का भी अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरितमानस' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है, इसलिए उसमें प्रक्षिप्त अंशों की सम्भावना मान-

र से ऊपर रहना चाहिए। यदि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के ऐसे प्रबल पक्षपाती थे तो वे 'ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।' कहकर जाति सगाई क्यों ते हैं? निश्चय ही उनको जाति और जन्म को लेकर जिस वर्ग ने उन्हें सताया था उससे क्षुब्ध होकर उन्हें 'धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ' आदि लिखना पड़ा था। यदि वे हिन्दू सामन्त-वर्ग के ऐसे कृपाभाजन थे तो उन्होंने यह क्यों लिखा था : "माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ"। मस्जिद में सोकर तुलसीदास मुस्लिम सामन्तशाही के विरुद्ध हिन्दू सामन्तशाही को कैसे दृढ़ कर रहे थे? उनके राम यदि ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे तो वह शबरी के जूठे बेर क्यों खाते थे, निषाद को क्यों गले लगाते थे, उसे भरत के समान क्यों कहते थे, वानरों को अपना सखा क्यों मानते थे? यही नहीं राम ने अजामिल-जैसे अधमों को भी तार दिया था और तुलसीदास ने व्यंग्य करते हुए कहा था, "कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेई।" यदि तुलसीदास स्त्रियों को अराधन समझते थे तो जनकपुर में, अयोध्या में, वन में, सब कहीं राम के सबसे निकट इस नारी-समुदाय को क्यों खींच लाते हैं? राम को देखने के लिए स्त्रियाँ आती हैं, यह उनकी स्वाधीनता की पराकाष्ठा नहीं है किन्तु इससे उनके प्रेम की उत्कटता, जो सामाजिक नियमों की अवहेलना भी कर देती है, और उनके प्रति तुलसी की सहानुभूति अवश्य प्रकट होती है। यशपालजी इस विषय में कहते हैं : "ऐसी अवस्था में हम इस देश के ग्राम-ग्राम की दीन-से-दीन स्त्रियों को भी भालू और बन्दर का नाच देखने के लिए भी अपने द्वार पर आ जाता देखकर क्यों न समझ लें कि अब इस देश में नारी-स्वतन्त्रता के आन्दोलन की आवश्यकता नहीं रही।"

तुलसी की नैतिकता को गई-गुजरी बनाने वाले यशपाल जी स्वयं किस नैतिकता के स्तर पर आलोचना लिखते हैं, उपर्युक्त उद्धरण उसकी ओर संकेत करता है। विश्व-साहित्य के सौर-जगत् में तुलसी विराट् नक्षत्र हैं, यह शब्दावली दिखाने के लिए है। वास्तविक भावना यह है कि ग्रामवधुओं को राम को देखने आना भालू और बन्दर का नाच देखने के समान है। यह सब ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर!

तुलसी को हम यदि मानवतावादी कहें, उन्हें आज भी अपने सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक मानें, उन्हें अपने लिए प्रेरणादायक कहें तो हमारे मित्र क्रुद्ध होकर कहते हैं, कि हम तुलसीदास को आज के दृष्टिकोण से प्रगतिवादी सिद्ध करते हैं। तुलसीदास का सामाजिक दृष्टिकोण ऐसा था या होना चाहिए था कि वे समाज से वर्ग-शोषण मिटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा देते, यह दावा कोई नहीं करता। यह दावा अवश्य है कि तुलसीदास सामन्त-वर्ग के चाकर नहीं थे, उन्हें धनी वर्ग ने हाथी पर नहीं चढ़ाया, उनकी भक्ति विप्रवर्ग के लिए ही नहीं थी, उनके दीनदयाल सभी वर्णों के दीनों के लिए दयालु थे, तुलसी ने अपने राम

मे भारतीय जनता के धैर्य, शूरता, सहानुभूति, सात्विक क्रोध आदि गुणों का चित्रण किया है, इन्होने 'रामचरितमानस' तथा 'कवितावली' मे ग्रामीण जीवन और लोक-संस्कृति के अनुपम चित्र दिये हैं, तुलसीदास मानवीय करुणा और सहानुभूति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उन्होने नारी को 'देश-द्रोही' या 'मनुष्य के रूप' की नायिकाओं के रूप मे नहीं देखा, किन्तु उसकी पराधीनता के प्रति वे अचेत नही है और उसके भाग्य से उन्हे गहरी सहानुभूति है, वह सामन्ती समाज में जनता का उत्पीड़न देख चुके थे, स्वय सह चुके थे, उनके आत्म-निवेदन की करुणा का मुख्य स्रोत यही सामाजिक उत्पीडन है, इसलिए वह जनता के दुख-दर्द के भागीदार हैं, तभी मध्यकालीन निष्क्रियता मे उन्होने धनुर्धारी राम से रावण का नाश कराया और हमें अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया—इन मानवतावादी मूल्यों का दावा हम तुलसीदास मे अवश्य करते हैं। यशपालजी का वास्तविक क्षोभ है तुलसीदास को मानवीय करुणा और मानवीय सहानुभूति का कवि सिद्ध करने पर। इसीलिए उन्होंने लिखा है "यह कहना भी ठीक नही है कि तुलसी भक्ति-मार्ग के कवि होने के कारण अपनी सामयिक ऐतिहासिक परिस्थितियों मे मानववादी और प्रगतिवादी थे।" असली बात यह है कि उस समय की परिस्थितियों मे भी यशपालजी तुलसी को मानवतावादी नही मानते। इसीलिए इन्हें रूढ़ियों और अत्याचार के विरुद्ध "मानव-मात्र की समता की पुकार जिसे रामानुज, कबीर, नामदेव और नानक ने उठाया वह 'रामचरितमानस' मे दिखाई नहीं पड़ती।" यही नही, तुलसीदास अपने समय के मानववाद के विरोधी भी थे, क्योंकि यशपालजी के अनुसार "रामचरितमानस मे मानवता की उस पुकार को कलियुग का पाप और प्रभाव कहकर उसके विरोध के लिए भगवान् की अवतारणा बताई गई है।" इसलिए तुलसीदास मे, मध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए, मानवतावाद खोजना "अपने जन्म-जात जातिगत अधिकारों और प्रतिष्ठा का लोभ और अन्ध-अभिमान ही समझा जा सकता है", इसलिए तुलसीदास की नैतिकता "जन्म से जातिगत मिथ्या अहकार की प्रेरणा अवश्य देती है जो धर्मा-वर्ग को सतोष दे सकते हैं।" तुलसीदास के मानववाद और उनकी नैतिकता से यशपाल को इतनी चिढ़ है कि वह उनके समर्थन को एक साधारण साहित्यिक कार्य मान ही नही सकते, उसमे उन्हे जातिगत अधिकार, प्रतिष्ठा का लोभ, मिथ्या अहकार सब-कुछ दिखाई देता है। जब तुलसीदास ही मानववाद के विरोधी हैं, तब उनके भक्त प्रतिष्ठा-लोलुप और अहकारी हो तो आश्चर्य क्या ! इस तरह के कृपा-कटाक्ष यशपालजी की ऐतिहासिक दृष्टि की विशेषता है।

तुलसी की नैतिकता का सही मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हमारी आज की अपनी नैतिकता दुरुस्त हो। यशपालजी तुलसी की रूढ़िवादी नैतिकता के बदले किस नैतिकता की स्थापना करना चाहते हैं ? नारी की स्वाधीनता के बारे में वह

मन का इशारा देकर लिखते हैं, "स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आव-श्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें संकोच की आवश्यकता होनी चाहिए परन्तु प्यास लगने पर शहर की गन्दी नाली में मुँह डालकर भी पीना उचित नहीं। उचित है, स्वच्छ गिलास में स्वच्छ जल पीना।" यशपालजी ने स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त लेनिन से वैसे ही ढूँढ़ निकाला जैसे 'रामचरितमानस' से अछूत-प्रेम। लेनिन ने क्लारा जेटकिन से अपनी बातचीत में गिलास भर जल के सिद्धान्त को 'पूँजीवादी मनचलों का प्रमाण' कहा था। उसका कहना था कि 'यह पानी के गिलास का सिद्धान्त पूरी तरह गैर मार्क्सवादी है और इसके अलावा समाज-विरोधी भी है।" इसे समाज-विरोधी कहने का कारण, लेनिन के अनुसार, यह था "पानी पीना केवल किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिन्दगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नई जिन्दगी पैदा होती है। इससे उसमें सामाजिकता का सवाल उठता है जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है। एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के गिलास के सिद्धान्त से जरा भी सहानुभूति नहीं है यद्यपि उस पर प्रेम की तृप्ति का सुन्दर लेबिल लगा हुआ है। कुछ भी हो, पर प्रेम की मुक्ति न तो नई है, न कम्युनिस्ट है।"

इससे स्पष्ट है कि यशपालजी ऐतिहासिक दृष्टि पर मार्क्सवाद का लेबिल भी लगा हुआ है, किन्तु उसका मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। यशपालजी के 'चक्कर क्लब' का एक पात्र कहता है, "किसी की तृप्ति कवि रवीन्द्र की कविता में कामिनी को समीप बैठाकर हो जाती है तो किसी की साहित्यिक तृप्ति अनिया दबाने की चर्चा किये बिना नहीं होती। क्यों जी, सिर मुड़ाते हुए कॉमरेड की ओर देख उन्होंने पूछा—'क्या है वह गीत, 'न तानो जोबन मरकारी है, बचके रहो जी'।" नैतिकता के इस निम्न स्तर पर जीने वाले कलाकार तुलसी की नैतिकता से असन्तुष्ट न हों, तभी आश्चर्य होगा। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने मार्क्सवाद का दुपट्टा जरूर गले में डाल लिया है। 'पार्टी कामरेड' की हीरोइन का नख-शिख वर्णन करते हुए यशपाल जी कहते हैं, "माथे पर त्यौरी चढ़ा देखनी तो ऐसा लगता नजर सीने में गड़ा देगी।" 'रामचरितमानस' की आलोचना में अछूतों के प्रति अपार सहानुभूति प्रकट करने के बाद यशपालजी को इतना अवकाश नहीं मिला कि अपने किसी उपन्यास में वे प्रेमचन्द की तरह अछूतों का चित्रण करते। अछूतो-द्धार की सारी माँगें तुलसीदास से ही हैं। 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा अपने पति को तलाक देकर कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में आती है, तब "बहुत से कॉमरेड अपनी-अपनी जगह छोड़ संकोच से सिमटी जाती मनोरमा को घेरकर खड़े हो गए। उमेश ने गर्दन ऊँची कर बहुत जोर से पुकारकर कहा—'तो फिर अब!' और प्रोत्साहन की मुद्रा से हृदय पर हाथ रख लिया। यारों ने उमेश को कंधे में धक्के देकर फटकारा—हट पागल! मंगल बोला—आखिर कोई तो आशा कर

सकता है ! ......न्यू बस हैज कम (नई गाडी चल रही है।)" यशपाल जी की रचनाओं से इस रस-विशेष के उद्धरण एकत्र किए जाएँ तो वे भदन्तजी की 'उद्धरणमाला' से भी संख्या में अधिक, सुस्पष्ट, सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद सिद्ध हों। बानगी के लिए यहाँ इतने ही काफी हैं।

इससे ऊपर कही हुई बात का समर्थन होता है। मार्क्सवाद किताबें पढ़ने से ही नहीं आता, किताबें भी न पढ़कर सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लेनिन मे स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त ढूँढ लेने से तो और भी नहीं आता। यशपालजी के अपने संस्कार इतने प्रबल हैं कि जो है, वह ओझल हो जाता है, और जो नहीं है, वह दिखाई देने लगता है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने से पहले अपनी नैतिकता का मूल्यांकन, अपने दृष्टिकोण की परख आवश्यक है। मार्क्सवाद मानवता के कल्याण का दर्शन है। वह संस्कृति के मूल्यवान तत्त्वों का नाश नहीं करता, उन्हें सँजोकर रखता है। आज के पीड़ित जन यदि नये शोषणहीन समाज का स्वप्न देखते हैं, उसके लिए संघर्ष करते हैं, तो वह इसीलिए कि पुराने मानवतावादियों ने उन्हें उस मंजिल तक पहुँचा दिया है जहाँ से वे अगली मंजिल का सपना देखें। शोषणहीन समाज की स्थापना करने वाला मानववाद पुराने मानववाद से विच्छिन्न नहीं है, वह उसी की अगली कड़ी है। इसलिए उन पुराने मानववादियों का मूल्यांकन थोड़ी नम्रता के साथ करना चाहिए। जब हम उस मानववाद को आगे न बढ़ा रहे हों वरन् अपने संस्कारों के कारण अनैतिक उच्छृंखलता को प्रश्रय दे रहे हों, तब यह नम्रता और भी आवश्यक हो जाती है। जनता कितनी भी शिक्षा की प्रगति से विहीन हो, वह अपनी लोक-संस्कृति से और पिछले सौ साल के संघर्षों से अपनी अदम्य शक्ति का परिचय दे चुकी है। उसने जिस कवि को अपना हृदय-सम्राट् बनाया है, उसकी आलोचना ज़रा सोच-समझकर करनी चाहिए। और सबसे आवश्यक बात यह है कि पुस्तक की आलोचना करने से पहले उसे एक बार पढ़ लेना चाहिए। इस आवश्यक कार्य के बिना 'ऐतिहासिक दृष्टि' बहुत ही खतरनाक साबित होगी।

हिन्दी में मार्क्सवादी लेखकों को काम करते हुए लगभग बीस वर्ष हो गए। इस अवधि में उन्हें जितनी सफलता मिल सकती थी और मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिली। सन् बीस से सन् चालीस तक के वर्षों को देखें तो उतने ही वर्षों में छायावादी कवियों तथा प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल के हाथों हिन्दी-साहित्य का स्तर बदल गया था। उतने ही काल में मार्क्सवादी लेखकों की उपलब्धियाँ क्या हैं? ये उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं, किन्तु उन बीस वर्षों के साहित्य की तुलना नगण्य ही हैं। इसका कारण क्या है? मार्क्सवाद एक नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण देता है; समाज की गतिविधि को समझने के साथ साहित्य के मूल्यांकन के लिए भी नई दृष्टि देता है। साथ ही जनता से प्रेम, जनता में भी सम्पत्तिहीन जनों से

गाढ़ी सहानुभूति और सहानुभूति के साथ उनका भाग्य बदलने का क्रान्तिकारी उत्साह देता है। इस तरह सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में वह श्रेष्ठ है। किन्तु हमारे अनेक मार्क्सवादी लेखक सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में पुराने साहित्यकारों से पिछड़े हुए हैं। उनका यह पिछड़ापन पुराने साहित्य के मूल्यांकन में सबसे अधिक दिखाई देता है।

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में प्रकृति और मानव-चरित्र का चित्रण अनुपम गहराई से किया है। उनके राम भारतीय साहित्य में सक्रिय प्रतिरोध के ज्वलन्त प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल ने तॉल्स्ताय पन्थ की निष्क्रियता की आलोचना करते हुए वाल्मीकि के राम को सक्रिय वीरों के प्रतीक-रूप में सामने रखा था। इस तरह उनका दृष्टिकोण उन 'मार्क्सवादी' लेखकों से कहीं अधिक वैज्ञानिक था, जो वाल्मीकि को शुङ्गवंश का चारण मानते हैं। कालिदास सामन्त-वर्ग के आश्रित कवि थे। शुक्लजी ने हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की चर्चा में दिखलाया है कि इनमें अनेक सच्चे कवि थे किन्तु वातावरण से प्रभावित हुए बिना वे भी न रहे। सामन्त-वर्ग के आश्रित कवियों के प्रति यह दृष्टिकोण सही है। कालिदास में, देखना चाहिए, कहाँ तक सच्ची मानवीय संवेदना व्यंजित हुई है, किस सीमा तक सामन्त-वर्ग के प्रभाव से वह कुण्ठित हुई है। यह भी देखना होगा कि उस समय का सामन्त-वर्ग १७-१८वीं सदी के सामन्तों की तरह क्षय और ह्रास की दशा में न था। यह सब कौन करे ? आसान तरीका यह है कि 'रघुवंश' में राजाओं की चर्चा है, इसलिए कालिदास को सामन्त-वर्ग का चारण घोषित कर दिया जाय।

इसी तरह सन्त-साहित्य के मूल्यांकन में। आसान तरीका यह है कि सन्तों को दो वर्गों में बाँट दिया जाय : निर्गुणपन्थी सन्त, सगुणपन्थी भक्त। पहले को प्रगतिशील माना जाय, दूसरे को प्रतिक्रियावादी। कबीर से वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में पंक्तियाँ एकत्र की जायें, तुलसी से उसके समर्थन में। इससे सिद्ध हो जायगा कि अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए कबीर प्रगतिशील थे, तुलसी प्रतिक्रियावादी। सच्ची मानवता की पुकार कबीर में सुनी गई; तुलसी ने उसे कलियुग का पाप और कुप्रभाव कहा। फिर भी तुलसी को महान् कहना हो तो उनकी कला को विचारशून्य बताकर उसमें सौंदर्य और सहानुभूति का रस-परिपाक सिद्ध कर दो। क्या नहीं, तुलसी में जब मानवता की पुकार का ही विरोध था, तब यह सहानुभूति किसके लिए उमड़ पड़ी थी ? यदि कहा जाय मर्यादापुरुषोत्तम राम के लिए, तो [illegible] कहेंगे, "तुलसी की कल्पना में अवतार की आवश्यकता सामन्तशाही की विषमताओं को दूर करने के लिए नहीं अपितु वर्णाश्रम-धर्म पर आश्रित सामन्तवादी के सम्मुख आ गई विषमताओं को दूर करने के लिए थी।" और ये [illegible] ये हैं प्रगतिशील साहित्य में 'कुत्सित समाज शास्त्र' और 'मशीनीकरण' [illegible] करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर चुके हैं।

ाही सहानुभूति और सहानुभूति के साथ उसका प्रसार करने का क्रान्तिकारी उभार देता है। इस तरह सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में वह श्रेष्ठ है। किन्तु हमारे अनेक मार्क्सवादी लेखक सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में पुराने साहित्यकारों से पिछड़े हुए हैं। उनका यह पिछड़ापन पुराने साहित्य के मूल्यांकन में सबसे अधिक दिखाई देता है।

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में प्रकृति और मानव-चरित्र का चित्रण अनुपम गहराई से किया है। उनके राम भारतीय साहित्य में सक्रिय प्रतिरोध के ज्वलन्त प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल ने लोकन्याय धर्म की निष्क्रियता की आलोचना करते हुए वाल्मीकि के राम को सक्रिय वीरों के प्रतीक-रूप में सामने रखा था। इस तरह उनका दृष्टिकोण उन 'मार्क्सवादी' लेखकों से कहीं अधिक वैज्ञानिक था, जो वाल्मीकि को शुद्रवध का कारण मानते हैं। कालिदास सामन्त-वर्ग के आश्रित कवि थे। शुक्लजी ने हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की चर्चा में दिखलाया है कि इनमें अनेक सच्चे कवि थे किन्तु वातावरण से प्रभावित हुए बिना वे भी न रहे। सामन्त-वर्ग के आश्रित कवियों के प्रति यह दृष्टिकोण सही है। कालिदास में, देखना चाहिए, कहाँ तक सच्ची मानवीय संवेदना व्यक्त हुई है, किस सीमा तक सामन्त-वर्ग के प्रभाव से वह कुण्ठित हुई है। यह भी देखना होगा कि उस समय का सामन्त-वर्ग १७-१८वीं सदी के सामन्तों की तरह क्षय और ह्रास की दशा में न था। यह सब कौन करे ? आसान तरीका यह है कि 'रघुवंश' में राजाओं की चर्चा है, इसलिए कालिदास को सामन्त-वर्ग का चारण घोषित कर दिया जाय।

इसी तरह सन्त-साहित्य के मूल्यांकन में। आसान तरीका यह है कि सन्तों को दो वर्गों में बाँट दिया जाय . निर्गुणपन्थी सन्त, सगुणपन्थी भक्त। पहले को प्रगतिशील माना जाय, दूसरे को प्रतिक्रियावादी। कबीर से वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में पंक्तियाँ एकत्र की जायँ, तुलसी से उसके समर्थन में। इससे सिद्ध हो जायगा कि अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए कबीर प्रगतिशील थे, तुलसी प्रतिक्रियावादी। सच्ची मानवता की पुकार कबीर से सुनी गई; तुलसी ने उसे कलियुग का पाप और कुप्रभाव कहा। फिर भी तुलसी को महान् कहना हो तो उनकी कला को विचारशून्य बनाकर उसमें शैशव और महानुभूति का रस-परिपाक सिद्ध कर दो। पता नहीं, तुलसी में जब मानवता की पुकार का ही विरोध था, तब यह सहानुभूति किसके लिए उमड़ चली थी ? यदि कहा जाय मर्यादापुरुषोत्तम राम के लिए, तो यशपालजी कहेंगे, "तुलसी की कल्पना में अवतार की आवश्यकता सामन्तशाही रूपी विषमताओं को दूर करने के लिए नहीं अपितु वर्णाश्रम-धर्म पर आश्रित सामन्तशाही के सम्मुख आ गई विषमताओं को दूर करने के लिए थी।" और ये विद्वान् हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य से 'कुत्सित समाज शास्त्र' और 'संकीर्णतावाद' का मूलोच्छेद करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर चुके हैं!

स सीधे तरीके के विपरीत शुक्लजी में एक पेचीदा तरीका मिलता है। साहित्य का इतिहास' में वह कहते हैं कि कबीर ने एक ओर तो भारतीय का पल्ला पकड़ा, दूसरी ओर निराकार ईश्वर की 'भक्ति' के लिए सूफियों तत्त्व लिया। इस तरह भक्तों और सन्तों का दो एकदम भिन्न, परस्पर विरोधी वर्गों में बँटवारा खत्म हो जाता है। उधर "सगुणोपासक भक्त के सगुण और निर्गुण-रूप ज्ञान-मार्गियों के लिए छोड़ देता है।" तुलसी- कहते हैं, "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।" कबीर, तुलसी, जायसी आदि में इन समानताओं के कारण शुक्लजी ने उन सभी की चर्चा 'भक्ति-काल' र्गत की है। इन समानताओं को देखने से वह सरल वर्गीकरण खत्म हो । इसलिए यशपालजी खफा होकर कहते हैं, "कबीर और तुलसी दोनों को र्ग का कवि कहकर एक श्रेणी में रख देना ऐतिहासिक मूढ़ता और अज्ञान जाएगा।" यद्यपि यह यशपालजी का पहला लेख है, जिसमें उन्होंने पर इतिहास की दृष्टि फेंकी है, फिर भी उन्होंने अपने इस प्रथम प्रयास आत्मविश्वास का उद्घाटन किया है, वह सचमुच ऐतिहासिक है !

व्य में सूक्तियाँ ही अपेक्षित नहीं हैं, उसमें मानव-जीवन का सजीव चित्रण ा चाहिए। कौन मानवता की पुकार सुनता है, इसकी एक कसौटी यह भी ौन मानव का चित्रण करता है। शुक्लजी के शब्दों में तुलसीदास "अपने दृष्टि रखने वाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखने वाले ।" उन्होंने 'व्यक्त जगत्' के 'अनेक रूपात्मक स्वरूप को' सामने रखा। ह तुलसी का दृष्टिकोण व्यक्त-जगत् को ग्रहण करता है, उसके अनेका- रूप को काव्य में चित्रित करता है। किन्तु यशपाल, रांगेय राघव, राहुल र को व्यक्त-जगत् की अस्वीकृति, काव्य में मानव-चरित्र के चित्रण का ही परम कलात्मक तत्त्व प्रतीत होता है !

चीन साहित्य के मूल्यांकन की यह पद्धति—मानव-जीवन के चित्रण को न सूक्ति-संकलन के बल पर कवियों का मूल्यांकन—छायावादी कवियों को ना में भी दिखाई दी। इसी पद्धति के कारण प्रसाद, निराला, पन्त और वर्मा की छायावादी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ, कलात्मक से शून्य, भाव-विह्वलता से शून्य, और सुसंगत विचारधारा से भी शून्य गति के पथ पर' का इतना अभिनन्दन हुआ। यह पद्धति हिन्दी के अनेक वादी' लेखकों में इतनी दृढ़ता से अपनी जड़ जमाये है कि उनके संस्कारों बन गई है। वे पुराने कवियों की प्रशंसा भी करेंगे तो ऊपरी मन से: करेंगे कि विदेश के मार्क्सवादी लेखक अपने पुराने लेखकों की परम्परा करते हैं। किन्तु उनके भीतरी संस्कार कहते हैं: ये सब स्वामी-वर्ग के गायक थे! यही कारण है कि पिछले बीस वर्षों में मार्क्सवादी लेखकों को

जितनी सफलता जितनी शक्ति थी, वह उन्हें नहीं मिली। इससे न तो मार्क्सवादी की हानि होती है, न वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास की। स्वयं इन लेखकों की अवश्य हानि होती है और वे हिन्दी लेखक हैं, इसलिए एक सीमा तक हिन्दी-साहित्य की भी हानि होती है। इसीलिए, मेरा यह निवेदन है, प्राचीन साहित्य की मौलिकता की चिन्ता करने से पहले अपनी मौलिकता का स्तर ऊँचा कीजिए, मूर्ति-भंजन के बदले मानव-जीवन के विकास पर ध्यान दीजिये, अपने से पहले के आलोचकों, विशेषकर आचार्य शुक्ल, का सम्मान से अध्ययन कीजिए, उस जनता की रसानुभूति को थोड़ी सहानुभूति से देखिये जिसकी सेवा करने का आपने व्रत लिया है और साहित्य में भावों, विचारों, इन्द्रिय-बोध, कलात्मक गठन, भाषा की चित्रमयता, संगीतमयता, अभिव्यंजना—इन सभी का ध्यान रखते हुए उसका मूल्यांकन कीजिए। इस मार्ग पर चलने से आप हिन्दी आलोचना-साहित्य को समृद्ध कर सकेंगे और वास्तविक अर्थ में जनता की सेवा करेंगे। वर्ना पिछले बीस वर्षों को देख लीजिए; 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' के हिसाब से ही प्रगतिशील साहित्य गतिशील होगा।

२ | तुलसी के सामाजिक मूल्य

तुलसीदास भारत के श्रेष्ठ भक्त-कवि हैं। वे भक्ति-आन्दोलन के निर्माता हैं,
उसी भक्ति-आन्दोलन की उपलब्धि हैं। उनके साहित्य का सामाजिक महत्व
क्ति आन्दोलन के सामाजिक महत्व पर निर्भर है, उससे पूरी तरह सम्बद्ध है।

इस भक्ति-आन्दोलन की पहली विशेषता यह है कि वह अखिल भारतीय है।
और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन संसार में दूसरा
है। ईसा की दूसरी शताब्दी में ही आन्ध्र प्रदेश में कृष्णोपासना के चिह्न पाये
ते हैं। गुप्त सम्राटों के युग में विष्णु-नारायण-वासुदेव की उपासना ने अखिल
रतीय रूप ले लिया।[1] पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिलनाड
क्ति-आन्दोलन का प्रमुख स्रोत रहा। आलवार सन्तों की कीर्ति सारे भारत में फैल
ी। कश्मीर में ललदेद, तमिलनाड में आन्दाल, बंगाल में चण्डीदास, गुजरात
नरसी मेहता—भारत के विभिन्न प्रदेशों में भक्त-कवि लगभग डेढ़ हजार वर्ष
जनता के हृदय को अपनी अमृत वाणी से सींचते रहे।

यह भक्ति-आन्दोलन ब्रह्मदेश, अफगानिस्तान और ईरान की सीमाओं पर
कर रुक जाता है, सिन्ध, कश्मीर, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाड
दि प्रदेशों पर भक्ति-आन्दोलन की धारा पूरे वेग से बहती है। भक्त-कवियों ने
भिन्न प्रदेशों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने में कितना बड़ा काम किया
, उसका मूल्य आँकना सहज नहीं है। इनके पास राजनीतिशास्त्र के कोई ऐसे
र्धचित सूत्र नहीं थे, जिन्हें वे आये दिन दोहराते हुए जनता को एकताबद्ध
रते। उन्होंने भावात्मक रूप से जनता को एक किया। इस भावात्मक एकता में
य भाव था भक्ति का।

उस समय दैनिक समाचार-पत्र नहीं थे, साप्ताहिक और मासिक पत्र नहीं
। प्रचार की सुविधा के लिए रेडियो नहीं था। आज ये सब साधन सुलभ हैं।

---

१. दि क्लासिकल एज, भारतीय विद्याभवन : पृष्ठ ४९१।

किन्तु क्या आज भारतीय जनता में—विशेष रूप से जनता के नेताओं में, उनकी पार्टियों में—वह भावात्मक एकता है, जो तुलसी के युग में थी? यह प्रश्न करने से ही भक्ति-आन्दोलन के राष्ट्रीय महत्व का ज्ञान हो जायेगा।

सम्भवतः तुलसीदास के युग मे विभिन्न प्रदेशों के साहित्यकार एक दूसरे की विचारधाराओ से जितना परिचित थे, उतना आज नही हैं। इधर विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक आन्दोलन को लेकर अनेक शोध ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भक्ति साहित्य मे जो समानताएँ दिखायी देती हैं, वे आकस्मिक नहीं हैं। वे इतर प्रदेशों के साहित्य से परिचित होने का फल है।

भक्ति-आन्दोलन से जो भावात्मक एकता स्थापित हुई, उसमें जितना फैलाव था, उतनी गहराई भी थी। यह एकता समाज के थोड़े से शिक्षितजनो तक सीमित नही थी। संस्कृत के द्वारा जो राष्ट्रीय एकता कायम हुई थी, उससे यह भिन्न थी। इसकी जड़ें नगरों और गाँवों की अपढ़ जनता के बीच गहरी चली गयी थीं। यह एकता प्रादेशिक भाषाओ के माध्यम से कायम हो रही थी। भक्ति-आन्दोलन एक ओर अखिल भारतीय आन्दोलन था, दूसरी ओर वह प्रदेशगत, जातीय आन्दोलन भी था। देश और प्रदेश एक साथ; राष्ट्र और जाति दोनो की सांस्कृतिक धाराएँ एक साथ। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता और सामर्थ्य का यही रहस्य है।

जो लोग समझते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ राष्ट्रीय एकता का अभाव था, उन्हें भक्ति-आन्दोलन के इस अखिल भारतीय रूप पर विचार करना चाहिए।

> भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
> जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै॥

यह उक्ति तुलसीदास की है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि राष्ट्रीय एकता का ही नहीं, जनतन्त्र का पाठ भी अंग्रेजों ने ही हमे पढ़ाया। अंग्रेज न आते, तो यहाँ के लोग संकीर्ण जातिवाद में फँसे रहते। इन विद्वानो को विचार करना चाहिए, कि भक्ति-आन्दोलन मे इतने जुलाहे, दर्जी, नाई, महार आदि इतर वर्णों के लोग कैसे सिमट आये। आजकल विश्वविद्यालयों मे और साहित्य मे कितने अध्यापक और लेखक हैं, जो द्विजेतर वर्णों के हैं।

सम्भवतः जातिप्रथा जितनी दृढ़ आज है, उतनी नामदेव दर्जी, सेना नाई, चोखा महार, रैदास चमार और कबीर जुलाहे के समय में न थी। और जातिगत सकीर्णता जितनी शिक्षित जनो मे है, सम्भवतः उतनी सूर और कबीर के पद गाने वाले अपढ़ जनों मे नहीं है। वर्णाश्रम धर्म और जाति प्रथा की जितनी तीव्र

ालोचना भक्ति-साहित्य मे है, उतनी आधुनिक साहित्य मे नही है।

यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि मैं भक्ति-आन्दोलन को बहुत व्यापक र्थ दे रहा हूँ। भक्त और सन्त अलग थे; इन दोनो से भिन्न प्रेममार्गी कवि थे। न सबको एक आन्दोलन मे शामिल करना अनुचित है।

इसका उत्तर यह है कि स्वयं भक्त और सन्त कवि-भक्तो और सन्तो मे वैसा ेद न करते थे जैसा आलोचक करते है। 'सन्त सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसन्त सम आई।' 'सन्तसभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल। बन्दउ न्त समान चित, हित अनहित नहिं कोइ' तुलसीदास की इन उक्तियों से देखा जा कता है कि सन्त और भक्त शब्द उनके लिए पर्यायवाची हैं। उधर कबीर की उक्ति है—

सहजैं सहजै मेलर होयगा, जागी भक्ति उतंगा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख चलौ गोत के संगा॥

कबीर भी सन्त और भक्त मे भेद नही करते।

मलिक मुहम्मद जायसी वेद-पुराण और कुरान सभी का आदर करते थे। 'वेद-पन्थ जे नहिं चलहि, ते भूलहिं वन माँझ।' यह उक्ति जायसी की है। पुराणों के बारे मे लिखा था, 'एहि बिधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महँ लिखा बखानू।' प्रेम-ज्ञान-वैराग्य-निर्गुण-सगुण आदि के भेदभाव उस समय अवश्य थे, किन्तु वे सब एक व्यापक आन्दोलन के अन्तर्गत थे। ये भेद उतने महत्वपूर्ण न थे, जितने कुछ आलोचकों को आज वे लगते हैं।

निराला जी ने अपने अनेक निबन्धों में प्रतिपादित किया है कि गोस्वामी तुलसीदास मूलतः रहस्यवादी थे। उनकी इस स्थापना के पीछे यह बोध था कि कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की चेतना का एक सामान्य स्तर है। इस रहस्यवाद का सामाजिक महत्व असाधारण है। यह रहस्यवाद अद्वैत ब्रह्म के साक्षात्कार का दावा करके अनेक धर्मों और मतो के परस्पर विद्वेष का खण्डन करता था। वह उच्च वर्णो के कर्मकाण्डी धर्म के स्थान पर लोकधर्म की स्थापना करता था। इस लोकधर्म का आधार था प्रेम। कबीर, तुलसी, जायसी आदि कवि रहस्यवादियों के सामने ज्ञान-नेत्र खुलने, आनन्द से विह्वल होने की बातें करते हैं और इस आनन्द को वे मानव-प्रेम से जोड़ देते हैं।

जायसी ने लिखा था—

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिये प्रेम कर दिया। उठी जोति भा निरमल हिया॥

जायसी के ज्ञान-नेत्र खुले; उन्हे जो प्रकाश दिखायी दिया, वह प्रेम का प्रकाश था। तुलसी ने लिखा—

किन्तु क्या आज भारतीय जनता में—विशेष रूप से जनता के नेताओं में, उनकी पार्टियों में—वह भावात्मक एकता है, जो तुलसी के युग में थी ? यह प्रश्न करने से ही भक्ति-आन्दोलन के राष्ट्रीय महत्त्व का ज्ञान हो जायेगा।

सम्भवतः तुलसीदास के युग में विभिन्न प्रदेशों के साहित्यकार एक दूसरे की विचारधाराओं से जितना परिचित थे, उतना आज नहीं हैं। इधर विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक आन्दोलन को लेकर अनेक शोध ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भक्ति साहित्य में जो समानताएँ दिखायी देती हैं, वे आकस्मिक नहीं हैं। वे इतर प्रदेशों के साहित्य से परिचित होने का फल है।

भक्ति-आन्दोलन से जो भावात्मक एकता स्थापित हुई, उसमें जितना फैलाव था, उतनी गहराई भी थी। यह एकता समाज के थोड़े से शिक्षितजनों तक सीमित नहीं थी। संस्कृत के द्वारा जो राष्ट्रीय एकता कायम हुई थी, उससे यह भिन्न थी। इसकी जड़ें नगरों और गाँवों की अपढ़ जनता के बीच गहरी चली गयी थीं। यह एकता प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से कायम हो रही थी। भक्ति-आन्दोलन एक ओर अखिल भारतीय आन्दोलन था, दूसरी ओर वह प्रदेशगत, जातीय आन्दोलन भी था। देश और प्रदेश एक साथ; राष्ट्र और जाति दोनों की सांस्कृतिक धाराएँ एक साथ। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता और सामर्थ्य का यही रहस्य है।

जो लोग समझते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ राष्ट्रीय एकता का अभाव था, उन्हें भक्ति-आन्दोलन के इस अखिल भारतीय रूप पर विचार करना चाहिए।

> भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
> जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै॥

यह उक्ति तुलसीदास की है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि राष्ट्रीय एकता का ही नहीं, जनतन्त्र का पाठ भी अंग्रेजों ने ही हमें पढ़ाया। अंग्रेज न आते, तो यहाँ के लोग संकीर्ण जातिवाद में फँसे रहते। इन विद्वानों को विचार करना चाहिए, कि भक्ति-आन्दोलन में इतने जुलाहे, दर्जी, नाई, महार आदि इतर वर्णों के लोग कैसे सिमट आये। आजकल विश्वविद्यालयों में और साहित्य में कितने अध्यापक और लेखक हैं, जो द्विजेतर वर्णों के हैं।

सम्भवतः जातिप्रथा जितनी दृढ़ आज है, उतनी नामदेव दर्जी, सेना नाई, चोखा महार, रैदास चमार और कबीर जुलाहे के समय में न थी। और जातिगत संकीर्णता जितनी शिक्षित जनों में है, सम्भवतः उतनी सूर और कबीर के पद गाने वाले अपढ़ जनों में नहीं है। वर्णाश्रम धर्म और जाति प्रथा की जितनी तीव्र

लोचना भक्ति-साहित्य मे है, उतनी आधुनिक साहित्य मे नही है।

यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि मैं भक्ति-आन्दोलन को बहुत व्यापक यं दे रहा हूँ। भक्त और सन्त अलग थे; इन दोनो से भिन्न प्रेममार्गी कवि थे। न सबको एक आन्दोलन में शामिल करना अनुचित है।

इसका उत्तर यह है कि स्वयं भक्त और सन्त कवि-भक्तों और सन्तों मे वैसा द न करते थे जैसा आलोचक करते हैं। 'सन्त सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा तु बसन्त सम आई।' 'सन्तसभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल। बन्दउ न्त समान चित, हित अनहित नहिं कोइ' तुलसीदास की इन उक्तियों से देखा जा कता है कि सन्त और भक्त शब्द उनके लिए पर्यायवाची हैं। उधर कबीर की क्ति है—

सहजै सहजै मेला होयगा, जागी भक्ति उतंगा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख चलौ गीत के संगा॥

कबीर भी सन्त और भक्त मे भेद नहीं करते।

मलिक मुहम्मद जायसी वेद-पुराण और कुरान सभी का आदर करते थे। 'वेद-पन्थ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ।' यह उक्ति जायसी की है। पुराणों के बारे मे लिखा था, 'एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महँ लेखा बयानू।' प्रेम-ज्ञान-वैराग्य-निर्गुण-सगुण आदि के भेदभाव उस समय अवश्य थे, किन्तु वे सब एक व्यापक आन्दोलन के अन्तर्गत थे। ये भेद उतने महत्वपूर्ण न थे, जितने कुछ आलोचकों को आज वे लगते हैं।

निराला जी ने अपने अनेक निबन्धों मे प्रतिपादित किया है कि गोस्वा तुलसीदास मूलतः रहस्यवादी थे। उनको इस स्थापना के पीछे यह बोध था कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की चेतना का एक सामान्य स्तर है। इस रहस्य वाद का सामाजिक महत्व असाधारण है। यह रहस्यवाद अद्वैत ब्रह्म के साक्ष त्कार का दावा करके अनेक धर्मों और मतो के परस्पर विद्वेष का खण्डन कर था। वह उच्च वर्णों के कर्मकाण्डी धर्म के स्थान पर लोकधर्म की स्थापना कर था। इस लोकधर्म का आधार था प्रेम। कबीर, तुलसी, जायसी आदि कवि रहस्य वादियों के सामने ज्ञान-नेत्र खुलने, आनन्द से विह्वल होने की बातें करते हैं अ इस आनन्द को वे मानव-प्रेम से जोड देते हैं।

जायसी ने लिखा था—

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिये प्रेम कर दिया। उठी जोति भा निरमल हिया॥

जायसी के ज्ञान-नेत्र खुले; उन्हे जो प्रकाश दिखायी दिया, वह प्रेम का प्रक था। तुलसी ने लिखा—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥

यहाँ भी ज्ञान-नेत्र मानस को चखता है। जो प्रकाश दिखाई देता है, उससे प्रेम प्रवाह ही उमगता है। यही प्रेम की भावात्मक एकता कबीर, सूर, जायसी और तुलसी को एक सामान्य भावभूमि पर ला खड़ा करती है। तुलसी के उपास्यदेव को कर्मकाण्ड नहीं, प्रेम ही प्रिय है।

रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

यही प्रेम तत्व मानव समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाला है।

आधुनिक काल में जड़ और चेतन, सगुण और निर्गुण, ज्ञान और भक्ति का भेद आलोचकों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। तुलसी के युग में भी इस तरह के भेद थे, किन्तु तुलसीदास तथा अन्य कवियों का प्रयत्न इन भेदों को दूर करने की ओर था, उन्हें दृढ़ करने के लिए नहीं।

जायसी ने लिखा था—

परगट गुपुत सो सरब बिआपी। धरमी चीन्ह, न चीन्है पापी॥

गोस्वामी जी ने इसी के समकक्ष लिखा था—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥

निर्गुण और सगुण परस्पर विरोधी नहीं हैं। एक ही सत्ता व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। कबीर की उक्ति है—

जहँ चेत-अचेत खम्भ दोउ मन रच्या है हिंडोर।
तहँ झूलें जीव जहान जहँ कतहूँ नहिं थिर ठौर॥

कबीर-जायसी-तुलसी की एक सामान्य दार्शनिक भूमि है, उसी के अनुरूप उनके साहित्य की सामाजिक विषयवस्तु में बहुत बड़ी समानता है।

भक्ति-आन्दोलन अखिल भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन की श्रेष्ठ देन थे, तुलसीदास। उन्होंने निर्गुण-पन्थियों और सगुण-सनातनियों को एक किया, उन्होंने वैष्णवों और शाक्तों को मिलाया। उन्होंने भक्ति के आधार पर जनसाधारण के लिए धर्म को सरल और सुलभ बनाकर पुरोहितों के धार्मिक एकाधिकार की जड़ें हिला दीं। तुलसीदास मानवीय करुणा के अन्यतम कवि हैं। राम दीनबन्धु हैं। 'सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।' निषाद, : परित्यक्त अन्त्यज, राम के लिए 'भरत सम भ्राता' है। वनवासी कोल- , दर्शन से प्रसन्न होते हैं। 'आभीर जवन किरात खस स्वपचादि' के स्मरण से मोक्ष-लाभ करते हैं। तुलसी स्वयं अपने को निम्न जनों में करके कहते हैं—

जाति हीन अघ जनम महि, मुकुत कीन अस नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि ॥
नारी की पराधीनता को पहचानने वाले, उसके दुख से द्रवित होने वाले । वही लिख सकते थे—
कत विधि सृजी नारि जगमाहीं । पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं ॥
नकपुर, चित्रकूट, अयोध्या—सर्वत्र शूद्रों और अन्यजों के साथ स्त्रियाँ ही अधिक राम के निकट रहती हैं ।
लसीदास ने भारतीय समाज के अनुपम चित्र दिये हैं । मन्दिर में देवीपूजा जाती हुई, सीता, शिव का विवाह, वृद्ध दशरथ और युवती कैकेयी का राम का वनवास राम-रावण का युद्ध—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उन्होने जीवन के विभिन्न चित्र दिये हैं । इन चित्रों के साथ उन्होंने आदर्श समाज चित्र भी मिला दिया है, जिससे आज तक लोग सुखी समाज को रामराज्य हैं ।
लसीदास की वाणी मूलतः पीडित कृषक जनता की वाणी है । यह वाणी क्ष रूप से विनयपत्रिका मे अपनी अपार वेदना से हृदय को द्रवित कर देती वितावली मे प्रत्यक्ष रूप से किसानो के उत्पीडन की चर्चा है । "खेती न न को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।" न्द मे उन्होंने दरिद्रता को रावण कहा है, जो संसार को दबाये हुए है । वे जानते थे कि "आगि बडवागि ते बड़ी है आगि पेट की ।" काशी मे महामारी र्णन इसी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत है ।
ोस्वामी तुलसीदास ने राम को उपास्य मानकर आस्था का भवन निर्मित या । किन्तु कष्ट सहते-सहते एक बार तुलसीदास की आस्था भी डिग गई उन्होंने क्षुब्ध होकर लिखा था—
कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबो ही रह्यो है ।
इससे उनके मर्मान्तिक कष्ट की कल्पना की जा सकती है ।
भक्ति-साहित्य निराशाजन्य साहित्य नहीं है यद्यपि उसमें निराशा भी है । धारणा कि मुसलमानों के शासनकाल मे पराधीनता के कारण लोग भक्ति निराशा के गीत गाने लगे, अवैज्ञानिक है । भक्ति-आन्दोलन तुर्क आक्रमणो ले का है । गुप्त सम्राटो के युग मे ही वैष्णव मत का प्रसार होता है, तमिल- भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र रहा, जहाँ मुसलमानो का शासन न था । स्वय मुस्लिम सन्तों ने इस आन्दोलन में योग दिया ।
भक्ति-आन्दोलन विशुद्ध देशज आन्दोलन है । वह सामन्ती समाज की परि- तियों से उत्पन्न हुआ था; वह मूलतः इस सामन्ती समाज-व्यवस्था से विद्रोह साहित्य है ।

तुलसी-साहित्य एक ओर आत्मनिवेदन और विनय का साहित्य है, दूसरी
ओर यह प्रतिरोध का साहित्य भी है। हमारे समाज पर गोस्वामी तुलसीदास
का इतना गहरा प्रभाव है कि आज यह कल्पना करना कठिन है कि तुलसीदास
ने अनेक प्रचलित मान्यताएँ स्वीकार करके यह साहित्य रचा था। 'काहू की बेटी
सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ'—जैसी उक्तियों से ही पता
चलता है कि उन्हें काशी जैसे नगर में तीव्र विरोध सहना पड़ा था। वे राम के
सम्मुख ही विनम्र और करुण स्वर में बोलनेवाले कवि हैं, औरों के आगे सर
हमेशा ऊँचा रखते हैं। जिन्हें उनकी कविता नापसन्द हो, उन्हें 'काक कहहि
कलकण्ठ कठोरा' कहकर वे चुप कर देते हैं। वे आत्मत्याग करनेवाले को सर्व-
श्रेष्ठ व्यक्ति मानते हैं। भक्त के पास अपना कुछ नहीं होता, इसीलिए—'राम
ते अधिक राम कर दासा।' जब भरत चित्रकूट जाते हैं तब बादल उनके लि
ऐसी शीतल छाया करते हैं जैसी राम के लिए भी नहीं करते।

सामन्ती समाज के साहित्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी होती है—निष्क्रियता
तुलसी का साहित्य निष्क्रियता का साहित्य नहीं है। धनुर्धर राम रावण का व
करनेवाले पुरुषोत्तम हैं। समुद्र उनकी विनय नहीं सुनता, तब वह 'भय बिनु हो
न प्रीति' का मन्त्र सिद्ध करते हैं। तुलसी का साहित्य जीवन की अस्वीकृति क
साहित्य नहीं है। वे उन लोगों का मज़ाक उड़ाते हैं जो काम, क्रोध के भय के मा
रात को सो नहीं पाते—'जागें जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरें डरें उर भा
लोभ मोह कोह काम के।' केवल राम का भक्त चैन से सोता है—'सोवै सु
तुलसी भरोसे एक राम के।' काम, क्रोध, मद, लोभ बुरे हैं, किन्तु आवश्यक भी
भेद है मर्यादा का। नारद-मोह रावण की काम भावना अमर्यादित है, पुष्पवाटि
में कंकन किंकिनि धुनि में मदन दुन्दुभी सुननेवाले, 'मन सीय रूप लुभाव
वाले राम का प्रेम मर्यादित है। परशुराम का क्रोध, रावण का क्रोध अमर्यादि
है, समुद्र पर, रावण पर राम का क्रोध मर्यादित है। यूरोप के सन्तों की त
तुलसी को स्वर्ग का मोह नहीं है, न उन्हें नरक का भय है। उनके राम अ
जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक प्यार करते हैं—

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥

तुलसीदास ने जो राम में जन्मभूमि का प्रेम, निर्धन और परित्यक्त जनो
प्रति प्रेम चित्रित किया है, वह आकस्मिक नहीं है। उनके हृदय में जो प्रेम-प्रव
प्रवाह उमगा था, वही राम में साकार हो गया है। उन्होंने कहा भी था—'ज
रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' तुलसीदास ने भी अपनी भा
के अनुसार राम को प्रेममय, अपार करुणामय देखा है। रामचरितमानस के
वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति अन्य सभी कवियों के रामों से भिन्न हैं। वे तु

म हैं। उनमें हमें स्वय तुलसीदास की मानवीय छवि दिखायी देती है। इन
ामय राम मे कही तुलसी का चुनौती वाला स्वर सुनायी देना है—

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होइ बलवाना॥
जौं रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥

कही इनमें तुलसी की परिहासप्रियता दिखायी देती है।

राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥

लक्ष्मण मे यही परिहासप्रियता कुछ अधिक मात्रा मे चित्रित की गयी है।
प्रकार उनमें क्रोध की मात्रा अधिक है। विनयपत्रिका के तुलसी की छाप
के चरित्र पर है। तुलसी ने जैसे समस्त ससार को सियाराममय देखा था,
ही रामचरितमानस के हर पात्र में तुलसी के मानस का कुछ न कुछ अश
मान है।

तुलसी का काव्य लोक-सस्कृति का अभिन्न अग बन गया है। उनके समकक्ष
र का कोई भी दूसरा कवि नहीं है, जिसे साधारण जनता ने इस तरह अपना
ा हो। उनके नाम के साथ कोई पन्थ नही जुडा है। रामचरितमानस को
प्रिय बनाने के लिए कोई संघबद्ध प्रयास नहीं किया गया। अपने आप मिथिला
ाँवों से लेकर मालवे की भूमि तक जनता ने इस ग्रन्थ को अपनाया। करोड़ों
ीभाषियो के लिए धर्मग्रन्थ, नीतिग्रन्थ, काव्यग्रन्थ यदि कोई है तो रामचरित-
स। इसका एक अप्रत्यक्ष सामाजिक फल यह हुआ है कि हिन्दीभाषी जनता
सगठित करने मे, उसमे जातीय एकता का भाव उत्पन्न करने मे रामचरित-
स की अपूर्व भूमिका रही है। हिन्दीभाषी प्रदेश के जनपदों का अलगाव
ीदास के युग मे ही दूर हो रहा था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने अवधी
ब्रजभाषा दोनो मे कविता रची। ब्रजभाषा की रचनाएँ ब्रज तक सीमित नहीं
, अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित नही रही। इन रचनाओ मे सूर और
ा के पद प्रमुख हैं। अवधी मे रामचरितमानस ने उसी कोटि की भूमिका पूरी
। आश्चर्य की बात है कि जिन जनपदो के गाँवो मे तुलसी और सूर की रच-
ों का पाठ शताब्दियों से होता रहा है, उनके कुछ अभिनव नेता और बुद्धि-
ी अपने को हिन्दीभाषी क्षेत्र से अलग मानते हैं।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का राष्ट्रीय महत्त्व यह है कि उनसे
तीय जनता की भावात्मक एकता दृढ़ हुई।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का प्रादेशिक महत्त्व यह है कि इनसे
दीभाषी जनता की जातीय एकता दृढ़ हुई।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का अन्यतम सामाजिक महत्त्व यह है कि
मे देश की कोटि-कोटि जनता की व्यथा, प्रतिरोध भावना और सुखी जीवन की
ांक्षा व्यक्त हुई है। भारत के नये जागरण का कोई महान कवि भक्ति-आंदो-

४ | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : युगान्तरकारी व्यक्तित्व

आज से पिच्चासी वर्ष पहले २७ सितम्बर, १८८० के 'सारसुधानिधि' में यह प्रस्ताव छपा था कि बाबू हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की उपाधि दी जाये। समस्त हिन्दी-संसार ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। बाबू हरिश्चन्द्र सदा के लिए हिन्दी भाषी जनता के भारतेन्दु बन गये। इस उपाधि का जो मूल्य था, वह नोबेल पुरस्कार से बढ़कर था। यह जनता की दी हुई उपाधि थी। यह उपाधि सरकार और उसके समर्थकों के लिए चुनौती के रूप में थी। सरकार ने राजा शिवप्रसाद को सितारेहिन्द बनाया; जनता ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया।

हिन्दी साहित्यकारों और हिन्दी-प्रेमियों का जैसा प्रेम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाया, वैसा प्रेम हिन्दी के दूसरे साहित्यकारों को नहीं मिला। अन्य भाषाओं में उनसे बड़े कलाकार पैदा हुए हैं, किन्तु पूर्ण चन्द्र की तरह जन-समुद्र में प्रेम का ज्वार उठानेवाला व्यक्तित्व उन्हीं का था। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि उन्होंने देश और समाज की महान् ऐतिहासिक आवश्यकता को पहचाना और उसे पूरा किया। दूसरा यह कि उन्होंने जो कुछ किया, वह निस्वार्थभाव से, देश और जनता के लिए, हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए; अपने अहंकार की तुष्टि के लिए नहीं, अपना वन्दन-अभिनन्दन कराने के लिए नहीं।

भारतेन्दु से पहले साहित्य में खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ था, जिसे हम उर्दू कहते हैं। कुछ लोग इसे हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन का प्रतीक मानते हैं। यदि ऐसा होता तो बंगाल और महाराष्ट्र के हिन्दू-मुसलमान उर्दू ही बोलते, बंगला-मराठी भाषाओं का व्यवहार न करते।

भारत में तुर्की, पश्तो आदि भाषाएं बोलने वाली जातियों के लोग आये और बस गये। कश्मीर, सिन्ध, बंगाल आदि प्रदेशों में उन्होंने वहीं की भाषाएँ अपनायीं। हिन्दी क्षेत्र में मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, रहीम आदि ने यहाँ की प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया। उस समय उत्तर भारत के मुसलमान इस बात का इन्तजार न करते रहे थे कि मुश्तर्का जबान का जन्म हो जाये,

लन और तुलसीदास से पराङ्मुख नहीं रह सकता। वह सांस्कृतिक धारा रवीन्द्रनाथ और निराला के साहित्य में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए यहाँ रवीन्द्रनाथ की 'सूरदासेर प्रार्थना' और निराला की 'तुलसीदास' कविताओं का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा।

४ | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : युगान्तरकारी व्यक्तित्व

आज से पिच्चासी वर्ष पहले २७ सितम्बर, १८८० के 'सारसुधानिधि' मे यह प्रस्ताव छपा था कि बाबू हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की उपाधि दी जाये। समस्त हिन्दी-संसार ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। बाबू हरिश्चन्द्र सदा के लिए हिन्दी भाषी जनता के भारतेन्दु बन गये। इस उपाधि का जो मूल्य था, वह नोबेल पुरस्कार से बढ़कर था। यह जनता की दी हुई उपाधि थी। यह उपाधि सरकार और उसके समर्थकों के लिए चुनौती के रूप में थी। सरकार ने राजा शिवप्रसाद को सितारेहिन्द बनाया; जनता ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया।

हिन्दी साहित्यकारों और हिन्दी-प्रेमियों का जैसा प्रेम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाया, वैसा प्रेम हिन्दी के दूसरे साहित्यकारो को नही मिला। अन्य भाषाओ मे उनसे बड़े कलाकार पैदा हुए है, किन्तु पूर्ण चन्द्र की तरह जन-समुद्र मे प्रेम का ज्वार उठानेवाला व्यक्तित्व उन्ही का था। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि उन्होंने देश और समाज की महान् ऐतिहासिक आवश्यकता को पहचाना और उसे पूरा किया। दूसरा यह कि उन्होने जो कुछ किया, वह निस्वार्थभाव से, देश और जनता के लिए, हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए, अपने अहकार की तुष्टि के लिए नही, अपना वन्दन-अभिनन्दन कराने के लिए नही।

भारतेन्दु से पहले साहित्य में खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ था, जिसे हम उर्दू कहते हैं। कुछ लोग इसे हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो के मिलन का प्रतीक मानते हैं। यदि ऐसा होता तो बंगाल और महाराष्ट्र के हिन्दू-मुसलमान उर्दू ही बोलते, बगला-मराठी भाषाओ का व्यवहार न करते।

भारत मे तुर्की, पश्तो आदि भाषाएं बोलने वाली जातियो के लोग आये और गये। कश्मीर, सिन्ध, बंगाल आदि प्रदेशो मे उन्होंने वही की भाषाएँ अप- । हिन्दी क्षेत्र मे मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, रहीम आदि ने यहाँ की [illegible] परम्पराओं को अपनाया। उस समय उत्तर भारत के मुसल- [illegible] न का इन्तज़ार न करते रहे थे कि मुश्तर्का ज़बान का जन्म हो जाये,

फ़ारसी शब्दावली का आधिक्य रहा।

क्या ऐसी साहित्यिक भाषा, जो अपनी उच्च शब्दावली केवल अरबी-फ़ारसी से लेती हो, उज्जैन, पटना और दिल्ली के बीच फैले हुए विशाल प्रदेश की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती थी?

सम्भव है, शहर के उच्च वर्ग अपनी आवश्यकताएँ इस साहित्यिक भाषा से पूरी कर लेते। किन्तु ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड, भोजपुरी आदि क्षेत्रों के गाँवों में एक दूसरी तरह की शब्दावली का प्रचार था। यह शब्दावली मिलती है रामचरितमानस में, सूर और मीरा के पदों में, बिहारी के दोहों में, देव-मतिराम-पद्माकर के सवैया-कवित्तों में, कबीर-जायसी-रहीम-रसखान-आलम आदि मुसलमान कवियों की रचनाओं में। इनकी शब्दावली ग़ालिब, इक़बाल की साहित्यिक शब्दावली से भिन्न है। तुलसी-सूर की साहित्यिक शब्दावली के हज़ारों शब्द बंगला-मराठी में मिलेंगे, उर्दू में वे मतरूक हैं।

यदि उर्दू वास्तव में मुश्तर्का ज़बान होती तो कोई शक्ति उसके मुक़ाबले में हिन्दी को प्रतिष्ठित न कर पाती। आधुनिक हिन्दी के समर्थ आन्दोलन का रहस्य यह था कि एक ओर साहित्यिक हिन्दी तुलसी-सूर-रसखान की परम्परा से सम्बद्ध थी, दूसरी ओर वह जनपदीय बोलियों के बहुत नज़दीक थी।

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं ने अपने को इस संकीर्णता से बचाया कि वे फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को अपने गद्य से निकाल दें। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे, उर्दू में जब-तब लिखते भी थे और उनके हिन्दी गद्य में फ़ारसी के सरल शब्दों का बहिष्कार नहीं किया गया। बीसवीं सदी के हिन्दी गद्य को सवारने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने अपनी भाषा-नीति के बारे में श्री कालिदास कपूर को १५ फरवरी सन् '१८ के पत्र में लिखा था—"अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उन्हें हिन्दी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग निन्दा करते थे। कहते थे, यह हिन्दी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी सरस्वती की अब नक़ल करने लगे हैं।"[1]

हिन्दी के तमाम समर्थ साहित्यकार द्विवेदीजी की इसी उदार नीति के अनुगामी रहे हैं। इसीलिए हिन्दी आन्दोलन को साम्प्रदायिक कहना इतिहास के साथ अन्याय करना है।

भारतेन्दु इस आन्दोलन के जन्मदाता थे।

हिन्दीभाषी प्रदेश की जनता के सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक था कि यहाँ ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रसार हो, जो जनपदीय बोलियों के निकट हो,

---

१. सरस्वती, अप्रैल, १९४२

जो सूर और तुलसी की साहित्यिक शब्दावली को अपने में समेट ले, जो अपना विकास बंगला, मराठी आदि की तरह संस्कृत के सहारे करे, जो उच्च शब्दावली के लिए एकमात्र फारसी पर निर्भर न हो।

भारतेन्दु की भाषा-नीति इस ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुकूल थी। इसीलिए उन्हें अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफलता मिली। उन्होंने लिखा था—"हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।"

१८७३ को अभी सौ साल भी नहीं हुए। जैसी बहुमुखी, अप्रतिहत, विराट् प्रगति एक शताब्दी में हिन्दी ने की है, वैसी प्रगति संसार की शायद ही किसी भाषा ने की हो।

आज से सौ वर्ष पहले हिन्दी की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। हिन्दी में न उल्लेखनीय गद्य था, न पद्य था। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिल आदि में उच्च कोटि का प्रचुर साहित्य था। यह भी हिन्दी का साहित्य था, हिन्दी के व्यापक अर्थ में। किंतु खड़ी बोली हिंदी साहित्य का समर्थ माध्यम न बनी थी। अंग्रेज़ों ने कचहरियों में फारसी की जगह उर्दू का चलन किया था। गाँव से लेकर शहर तक कोई भी सरकारी काम उर्दू अंग्रेज़ी की जानकारी के बिना न हो सकता था। ब्रिटिश सरकार फूट डालो और राज करो की नीति के अनुसार अल्पसंख्यकों को बढ़ावा देती थी। वह हिन्दी के प्रसार में रुकावटें डालती थी। उर्दू-प्रेमी साहित्यकार नयी हिन्दी को अपने लिए बहुत बड़ा खतरा समझते थे। इनके अतिरिक्त हिन्दी के रूढ़िवादी साहित्यकार पुरानी काव्य-परम्पराओं से चिपके हुए थे। वे आधुनिक हिन्दी में गद्य के विकास के प्रति उदासीन थे।

भारतेन्दु ने इन तमाम बाधाओं पर विजय पायी। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति हिन्दी की सेवा में लगा दी। उन्होंने 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', आदि पत्रिकाएं निकाली। बनारस को केन्द्र बनाकर उन्होंने साहित्यकारों का विशाल दल तैयार कर लिया। उनकी प्रेरणा से अनेक केन्द्रों से नये पत्र निकलने लगे। भारतेन्दु युग के लेखकों ने जनता में हिन्दी प्रेम जाग्रत किया, बड़े ही अध्यवसाय और लगन से उन्होंने हिन्दी गद्य को संवारा और हजारों नये पाठकों तक अपना साहित्य पहुँचाया। उनकी साधना अमर है। उसी साधना के बल पर आज हिन्दी हमारी जातीय भाषा है। सरकार और राजनीतिक पार्टियों के नेता कुछ भी कहें, भारत के जनसाधारण की व्यावहारिक राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है।

भारतेन्दु की हिन्दी आदर्श हिन्दी मानी जाती थी। उनके समकालीन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी जैसे लोग थे। ये स्वतन्त्रचेता, प्रतिभा के धनी, दूसरों का लोहा न मानने वाले साहित्यकार थे। भारतेन्दु कितने बड़े लेखक थे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस युग के महान् साहित्यकार उनकी गद्य शैली को आदर्श मानते थे।

उस गद्य में अक्सर शहरी नफ़ासत की कमी है। उसमें भदेसपन है, 'सियनि सुहावनि टाट पटोरे' का मज़ा है। जिन्दादिली में उसका मुकाबला नही है। नींद से उठने वाली एक नयी जाति का जयघोष उसमें सुनाई देता है।

भारतेन्दु ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य की सभी विधाओं पर ध्यान दिया। इन सबमें उस युग की अपनी, साहित्य की सबसे विकसित विधा है—निबन्ध। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों का रूप अंग्रेज़ी की देन नहीं है। वह हिन्दी की अपनी सहज विकसित विधा है।

गद्य की जो विशेषताएँ निबन्धों मे हैं, वे नाटकों में भी मिलती हैं। विशेष रूप से प्रहसनों में व्यंग्य और हास्य खूब निखरा हुआ है।

भारतेन्दु ने नाटक पर एक विस्तृत निबन्ध लिखकर आधुनिक हिन्दी आलोचना को जन्म दिया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र केवल साहित्यिक हिन्दी भाषा के निर्माता नहीं थे, वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माता भी थे। उन्होंने ब्रजभाषा की पुरानी कविता मे नयी जान डाली। उनकी शृंगार और भक्ति की रचनाएँ पुराने कवियो की रचनाओं से होड करती हैं। उन्होंने खडी बोली मे भी अनेक पद्य रचे। इनमे उनकी लावनी सबसे सफल है। साहित्य को उनकी देन है : राष्ट्रीय विचारधारा। 'भारत-दुर्दशा' जैसे नाटको में, 'जातीय सगीत' जैसे निबन्धों मे उन्होंने देश की दशा पर ध्यान केन्द्रित किया है।

इस प्रकार उन्होंने साहित्य की विषयवस्तु मे युगान्तकारी परिवर्तन किया। भारतेन्दु घर में बैठकर मात्र मनोविनोद के लिए साहित्य रचने वाले जीव न थे। उन्होंने कलकत्ता और पुरी के अलावा हिन्दी क्षेत्र के गाँव की यात्रा भी की थी। उन्होंने खान देश के बाढ़ पीडितो से लेकर फ्रास के दुखियों तक के लिए चन्दा इकट्ठा किया था। वे स्वदेशी के प्रथम प्रचारकों मे थे। बग-भग और गांधी जी के आन्दोलनो से बहुत पहले उन्होंने ऐसी संस्था बनायी थी, जिसके सदस्य स्वदेशी वस्त्रो का ही व्यवहार करते थे। वे मेलो मे जाकर नाटक कर सकते थे, वे जनता के बीच भाषण देते थे। इस जनसम्पर्क के कारण ही उनका साहित्य इतना सजीव है।"

भारतेन्दु की लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने समाज और साहित्य की आवश्यकताओं को पहचाना, उन्हें पूरा किया। उनकी लोकप्रियता का दूसरा कारण उनका व्यक्तित्व है, चन्द्रमा के समान प्रकाशमय, दूसरों के सामने अपने कलंक भी प्रकट कर देने वाला। यह बात जग जाहिर थी कि वे मेधावी और मल्लिका के प्रेमी हैं। उन्होंने अपनी प्रेमिका के बनाये पदों को अपने सग्रहों मे स्थान दिया। वे रईस घराने मे पैदा हुए थे, खर्चीले स्वभाव के थे। उनकी यह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध थी—"इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा।"

वे प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के घराने में पैदा हुए थे। उनके पिता और पितामह अंग्रेजों के विश्वासभाजन थे। 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' में उन्होंने अपने यहाँ के मुसाहबों का इस प्रकार चित्रण किया है—

"कोई कहता था आपसे सुन्दर संसार में नहीं, कोई कसम खाता था, आप-सा पण्डित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था, चमेलीजान आप पर मरती है, आपके देखे बिना तड़प रही है, कोई बोला, हाय ! आपकी फलानी कविता पढ़कर रात भर रोते रहे।"

इस वातावरण से ऊपर उठना, प्राचीन रूढ़ियाँ तोड़ कर नये युग के अनुकूल साहित्य रचना अपूर्व चरित्र बल से ही सम्भव था। भारतेन्दु ऊपर से बड़े कोमल थे। उनमें चरित्र की असाधारण दृढ़ता थी। इसीलिए वे इतना काम कर सके।

वे अंग्रेजी के अलावा बंगला, उर्दू आदि अनेक भारतीय भाषाएँ अच्छी तरह से जानते थे। उनमें ज्ञान की अदम्य पिपासा थी। उन्होंने नाटक से लेकर पुरातत्व तक अनेक विषयों पर कलम चलायी थी। उनके जो नाटक, पद्य और निबन्ध संकलित किये गये हैं, उनका परिमाण काफी है। किन्तु इनसे बहुत बड़े परिमाण में उनका वह गद्य है, जो 'कवि वचन सुधा' आदि पत्रिकाओं में है किंतु असंकलित है। उन्होंने हजारों पत्र लिखे थे, जिनमें कुछ बच रहे हैं, शेष नष्ट हो गये हैं। यह सब उन्होंने ३४ वर्ष की छोटी उम्र में ही कर डाला। उनका-सा परिश्रम करने वाले हिन्दी में विरले ही हुए हैं।

बनारस की एक खास अदा—सादगी और मस्ती—उनके चरित्र की विशेषता थी। वे 'पैदल धूप में गर्म रेती पर सरजू के किनारे' घूम सकते थे। वे गुड़ जैसी बर्फी, भूर के लड्डू और काठ के टुकड़े जैसी बालूशाही की तारीफ कर सकते थे। वे अवध के किसानों में घुल-मिल सकते थे। "चूल्हे जल रहे हैं, सैंकड़ों अहरे लगे हुए हैं, कोई गाता है, कोई बजाता है, कोई गप हांकता है।" वे गंगा की फुहारों का आनन्द लेते हुए हरिद्वार में शिला पर बैठ कर भोजन कर सकते थे। "एक दिन मैंने श्री गंगा के तट पर रसोई करके पत्थर ही पर जल के अत्यन्त निकट परोस कर भोजन किया, जलके छलके पास ही ठण्डे-ठण्डे आते थे, उस समय पत्थर का भोजन का सुख सोने के थाल के भोजन से कहीं बढ़के था।" ऐसे सहज आनन्दी स्वभाव के व्यक्ति पर लोग क्यों न रीझते ?

व्यंग्य और परिहास उनकी नस-नस में भरा था। पहली अप्रैल को उन्होंने लोगों को यह कहकर इकट्ठा कर लिया था कि एक मेम खड़ाऊँ पहन कर गंगा [illegible]।

[illegible] थे, विधवा-विवाह के समर्थक थे, स्त्री-शिक्षा के प्रबल [illegible]। उनके विरोधियों की संख्या कम न थी। सरकारी क्षेत्रों के अलावा

रूढ़िवादी समाज के ठेकेदार उनके कट्टर शत्रु थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि इन शत्रुओं का महत्व कीड़ों से अधिक नहीं है। वे नष्ट हो जाएंगे, भविष्य में लोग भारतेन्दु को ही याद करेंगे।

'प्रेमजोगिनी' में सूत्रधार भारतेन्दु को लक्ष्य कर कहता है, "क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नयी निन्दा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है, तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हे सरबस है, वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे, तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवन-पद्धति समझेंगे··· स्मरण रखो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे, क्या तुम अपना वह कवित्त भूले गये—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछो प्यारे हरीचन्द की कहानी रह जायगी।"

भारतेन्दु के प्रेमी उनका नाम आदर से लेते हैं। नैनों में नीर भरकर उनकी कहानी कहते हैं। वे विरोधियों के सामने शिला की तरह कठोर थे, दुखी-जनों के लिए कुसुम से भी कोमल थे। अंगूठी से लेकर दुशाले तक जो सामने हुआ, उसे उन्होंने याचक को दे डाला। कर्ज के भार से दबे रहे, लेकिन मरने से पहले सब का कर्ज चुका गये।

मौत को देखकर उनकी जिन्दादिली मुर्झायी नहीं। ३४ वर्ष की आयु में अकाल मृत्यु का परिहास करते हुए उस वीर ने कहा था, "हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया-नया छप रहा है—पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी, देखें लास्ट नाइट कब होती है।"

ऐसा था युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व। उसकी छाप हिन्दी साहित्य पर, हिन्दी-साहित्यकारों के हृदय पर चिरकाल तक रहेगी। हरियाने के बालमुकुन्द गुप्त, ब्रज के राधाचरण गोस्वामी, अवध के प्रतापनारायण मिश्र सभी उनके भक्त थे।

राधाचरण गोस्वामी ने अपने जीवन चरित में भारतेन्दु के बारे में लिखा था, "उनके लेख-ग्रन्थ हमको वेद-वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कार्यों में वे आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थी।"

इन वाक्यों से भारतेन्दु के प्रति समकालीन लेखकों की श्रद्धा का अनुमान किया जा सकता है।

१९५० में भारतेन्दु की जन्मशती उत्सव में भाषण करते हुए हिन्दी के महा-स्वाभिमानी कवि निराला ने कहा था, "मैं उनके दरबार का दरबान मात्र हूँ।"[1] जो शीश किसी के सामने न झुका था, वह भारतेन्दु के आगे

1. भारत, १८ सितम्बर १९५०।

५ | शैलीकार और शब्द-पारखी : बालमुकुन्द गुप्त

रायकृष्णदास जी ने जब आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से पूछा - आपकी राय में सबसे अच्छी हिन्दी कौन लिखता है ? तब उन्होंने उत्तर दिया : अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।

गुप्त जी ने भारतेन्दु-युग के वातावरण में हिन्दी की सेवा करना सीखा था। वह प्रतापनारायण मिश्र के सहयोगी थे। उन्होंने 'भारत मित्र' में द्विवेदी जी की रचनाएँ छापी थीं। "गुप्त जी व्यंग्यकार, शब्दों के प्रयोग और व्याकरण के सूक्ष्म तत्वों के विशेषज्ञ, इतिहास और राजनीति के विद्वान, जीवनी-लेखक, हिन्दी भाषा के अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करने वाले सैनिक और अपनी पत्रकार कला द्वारा जनता में नवीन राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक चेतना फैलाने वाले लेखक थे। उन्होंने अपना जीवन उर्दू पत्रकार के रूप में आरम्भ किया था। वे अन्त समय तक 'जमाना' जैसे पत्रों में भी लिखते रहे। उन्होंने साधारण शिक्षा पायी थी, किन्तु अपने अध्यवसाय से उन्होंने बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त किया। उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र कलकत्ता रहा। 'भारत मित्र' के साथ गुप्त जी का नाम वैसे ही जुड़ा है जैसे 'सरस्वती' के साथ द्विवेदी जी का। वे धार्मिक प्रवृत्ति के लेखक थे, किन्तु विचारों में अत्यन्त उदार थे। यद्यपि उर्दू के विरुद्ध और नागरी के पक्ष में उन्होंने बहुत कुछ लिखा था, फिर भी वे हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के प्रबल समर्थक थे। अपनी उग्र राजनीतिक चेतना के कारण वे भारतेन्दु से अधिक बालकृष्ण भट्ट के निकट हैं। उनका गद्य ललित और सरस है, इस दृष्टि से वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और *प्रतापनारायण* मिश्र की शैली के अनुवर्ती हैं। किन्तु उनका-सा पैना व्यंग्य उस युग के किसी अन्य लेखक में नहीं है। वाद-विवाद को कलात्मक बना देने में वे अनुपम थे।

गुप्तजी का व्यापारी-वर्ग से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अपने दृढ़ चरित्र के कारण उन्होंने अपनी नीति व्यापारियों के प्रभाव से मुक्त रखी। इतना ही नहीं, वे उनकी आलोचना भी करते रहे 'जमाना' सम्पादक दयानारायण निगम ने

कलकत्ते के व्यापारियों का जिक्र करते हुए कहा था कि वे कहते हैं, "हमने सबको अपना बना लिया, किसी को खुशामद से, किसी को रुपये से, किसी को नीति-निपुणता से, परन्तु हमारा जादू नहीं चला, तो एक बालमुकुन्द गुप्तजी पर !"

'हिन्दी की उन्नति' शीर्षक लेख में उन्होंने 'मातृभाषा पर अनन्त अनुराग, अनन्त प्रेम, अनन्त भक्ति' की चर्चा की थी। यह अनुराग, प्रेम और भक्ति उनमें विद्यमान थी। उन्होंने अपने जीवन का प्रतिदिन देश और हिन्दी की सेवा में लगा दिया। सबेरे आठ बजे से अखबार का काम शुरू करना, भोजन के उपरान्त फिर दफ्तर में आ जमना, रात को भी लिखना, विज्ञापन से लेकर पत्र-व्यवहार का सारा काम देखना—उस समय के पत्रकार का जीवन सुगम नहीं था।

गुप्तजी को अपने पत्र से बेहद प्रेम था। 'वेंकटेश्वर समाचार' के स्वामी ने उन्हें दूने वेतन पर अपने यहाँ बुलाना चाहा, लेकिन उन्होंने अस्वीकार कर दिया। हैदराबाद के वजीर महाराजा सर कृष्णप्रसाद उन्हें बुलाना चाहते थे। गुप्तजी ने अपने मध्यस्थ मित्र को लिखा, "मेरे 'भारत मित्र' पत्र को दो रुपये वार्षिक देकर जो ग्राहक पढ़ता है, वही मेरे लिए महाराजा कृष्णप्रसाद है। यदि महाराज को मुझे जानना है कि मैं क्या हूँ, तो उनसे कहिए कि दो रुपये वार्षिक भेजकर 'भारत-मित्र' के ग्राहक बनें और उसे पढ़ा करें : मुझे आने का अवकाश नहीं है।"

गुप्तजी ने हिन्दी गद्य के साथ पत्रकार की स्वाधीन चेतना और निर्भीकता का आदर्श भी देश के सामने रखा। राजा रामपाल सिंह ने उन्हें 'हिन्दोस्थान' पत्र से अलग कर दिया था, "कारण गवर्नमेंट के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं।" राजाओं और धनकुबेरों के साथ निभ जाये, गुप्तजी ऐसे पत्रकार न थे। उनके लिए मातृभाषा की भक्ति और देशभक्ति, दो चीजें न थी। वे जनता में स्वाधीनता के भाव जगाकर अपनी भाषा और साहित्य को समृद्ध कर रहे थे।

'शाइस्ता खां का खत' नाम के व्यंग्यपूर्ण निबन्ध में उन्होंने अंग्रेजी राज के शोषण के बारे मे लिखा था, "जहाँ तुम्हारी हुकूमत जाती है, खाने-पीने की चीजों को एकदम आग लग जाती है, क्योंकि तुम तो हम लोगों की तरह खाली हाकिम ही नही हो, साथ-साथ बक्काल भी हो। उस अपने बक्कालपन की हिमायत के लिए ही हमारे जमाने को बगाल मे खेंचकर लाना चाहते हो। जो बादशाह भी है और बक्काल भी है, उसकी हुकूमत मे खाने-पीने की चीजें सस्ती कैसे हों ?"

'शिवशम्भू का चिट्ठा' व्यंग्यपूर्ण राजनीतिक निबन्धों का सिरमौर है। इतने कलात्मक ढंग से ब्रिटिश राज की आलोचना बहुत कम लोगों ने की है। इसमें

लेकर अद्भुत परिहास है; जगह-जगह परिहास की जगह लेखक

में प्रकट होता है। उनकी कल्पना नये और अनुपम चित्र

उनका देश-प्रेम जहाँ-तहाँ कवित्वपूर्ण ढंग से प्रकट होता है।

, नवाब, बेगम आपके दर्शनार्थ बम्बई पहुँचे। बाजे बजते

रहे फौजें सलामी देती रहीं। ऐसी एक भी सनद प्रजा-प्रतिनिधि होने की शिव-शम्भु के पास नहीं है। तथापि वह इस देश की प्रजा का, यहां के चिथड़ा-पोश कंगालों का प्रतिनिधि होने का दावा रखता है, क्योंकि उसने इस भूमि में जन्म लिया है। उसका शरीर भारत की मिट्टी से बना है और उस मिट्टी मे अपने शरीर की मिट्टी को एक दिन मिला देने का इरादा रखता है।···गाँव मे उसका कोई झोपड़ा नहीं है। जगल में खेत नही है। एक पत्ती पर भी उसका अधिकार नही है। पर इस भूमि को छोड़कर उसका संसार में कही ठिकाना भी नही है। इस भूमि पर उसका जरा स्वत्व न होने पर भी इसे वह अपनी समझता है।···

"विक्रम, अशोक, अकबर के साथ यह भूमि साथ नहीं गयी। औरगजेब, अलाउद्दीन इसे मुट्ठी मे दबाकर नही रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर इसे लूट के माल के साथ ऊँटों और हथियारो पर लाद कर न ले जा सके। आगे भी यह किसी के साथ न जायेगी, चाहे कोई कितनी ही मजबूती क्यों न करे।"

इस देश-प्रेम का जवाब नही है। कैसा अटूट आत्मविश्वास जनता की अपराजेय शक्ति मे है। धरती जनता की है। उसका मालिक कोई राजा नही हो सकता, चाहे वह देशी हो, चाहे विदेशी। बालमुकुन्द गुप्त ने अपने कुल और वर्ग के संस्कारो से बहुत ऊंचे उठकर देशभक्ति को नया अर्थ दिया। उनके लिए देश का अर्थ है, देश की निर्धन जनता। वे उन लोगों के प्रतिनिधि बनकर बोले हैं, जो स्वत्वहीन है, जिनका अपना कोई झोंपड़ा नही है, एक पत्ती पर भी जिनका अधिकार नही है। किन्तु सारा भारत इन्ही का है, भविष्य इन्ही का है। भारतीय राजनीति मे यह नया स्वर था जिसे प्रेमचन्द और निराला जैसे साहित्यकारो ने आगे चलकर खूब समर्थ बनाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस हिन्दी-आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक था। बालमुकुन्द गुप्त ने साहित्य में जिस धारा का विकास किया, उसमे महत्व राजाओं और नवाबों का नहीं था, महत्व था देश की साधारण जनता का। देवनागरी लिपि का प्रश्न, हिन्दी भाषा का प्रश्न, अंग्रेजी की जगह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न, इस जनता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ था और आज भी जुड़ा हुआ है।

जिन्होंने अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाया था, उन्होंने ही जनता का सत निकाल कर उसे भाग्य के सहारे गलियों और सड़कों पर मरने के लिए छोड़ दिया था। दिल्ली के उन अंग्रेजी-प्रेमी मठाधीशों से बालमुकुन्द गुप्त कहते हैं—

"इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर मे माई लार्ड की प्रजा में हजारो आदमी ऐसे हैं, जिनके रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नही है। गलियों और सड़को पर घूमते-घूमते जहां जगह देखते हैं, वही पड़ रहते हैं। पहरे वाला आकर डण्डा लगाता है, तो सरककर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं, तो सड़को पर

पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे ? दिल्ली दरबार में भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैंकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखने वाला कोई न था। यदि माई लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते, तो पूछने की जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटिजन हैं या नहीं ?"

जिन अंग्रेजों ने भारतीय जनता का शोषण इस प्रकार किया था, उन्हीं की भाषा स्वाधीन भारत की असली राष्ट्रभाषा बनी रहे, इससे अधिक अपमानजनक परिस्थिति दूसरी हो नहीं सकती।

बालमुकुन्द गुप्त उस युग के लेखक थे, जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अहिन्दी प्रदेशों में जोरदार आवाज उठने लगी थी। "बंकिम बाबू के समय के बंगदर्शन ने, 'भारत एकता' नाम के लेख में हिन्दी को ही सारे भारतवर्ष की भाषा होने के योग्य माना था। इस बंगला लेख में कहा गया था, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारत वर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जाहारा ऐक्य बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन ताहारई प्रकृत भारत-बन्धु नामे अभिहित हइबार जोग्य।"

दुःख की बात है कि अनेक प्रदेशों के अंग्रेजी पढ़े लोग भारत-एकता की वह बात भूलते जाते हैं। गुप्तजी ने मद्रास से निकलने वाले एक हिन्दी पत्र का उल्लेख किया था, "जिसको एक मदरासी ने जारी किया है और वही उसका एडीटर है।"

हिन्दी की व्यापकता के बारे में गुप्तजी ने लिखा था, "अधिक क्या मंद्राज जैसे विकट देश के नगरों में भी हिन्दी समझी जाती है।" १२-१३ साल बाद यही बात गांधी जी ने भी लिखी थी। गुप्तजी का विचार था, "हिन्दी अब भी भारत-व्यापी है। हिन्दुस्तान के किसी भाग में चले जाइए, वहाँ गाँव वालों की भाषा समझना कठिन होगा। पर बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों से बातें करने में विशेष कठिनाई न होगी।"

जनता ने अपने अन्तर्प्रान्तीय-सम्पर्क की समस्या बहुत पहले हल कर ली थी। लेकिन जो आई. ए. एस. की परीक्षा पास करके कलक्टर-कमिश्नर बनने का सपना देख रहे हैं, उन्हें जनता का रास्ता पसन्द नहीं है। जनता पर हुकूमत करने के लिए वे अंग्रेजी को आवश्यक समझते हैं। सरकारी नौकरियों के उम्मीदवार उस समय कोई बहुत बड़े देशभक्त न समझे जाते थे। गुप्तजी ने हिन्दी के पक्ष में बढ़ते हुए जनमत को लक्ष्य करके लिखा था, "यद्यपि बंगला, मराठी आदि भारतवर्ष की अन्य कई भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे है, तथापि समस्त भारतवर्ष में यह विचार फैलता जाता है कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहाँ की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है।"

हिन्दी के प्रसार का मार्ग सुगम नहीं था। परिस्थिति का एक पहलू यह था, "जितने लोग भारतवर्ष में हिन्दी बोलते हैं, यदि उनमें से चौथाई भी नागरी लिख-पढ़ सकते, तो हिन्दी भाषा सबसे आगे दिखायी देती।" जो लोग पढ़े-लिखे भी थे, वे अक्सर कैथी, मुड़िया आदि लिपियों का व्यवहार करते थे। इसीलिए हिन्दी प्रचार का आन्दोलन नागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन भी बन गया। नागरी लिपि हिन्दीभाषी जाति के गठन और उसके सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक थी। इसके सिवा गुप्तजी के लिए देवनागरी के प्रचार पर ही हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना निर्भर था। "देवनागरी अक्षरों का जितना अधिक प्रचार होगा उतना ही भारत-व्यापी होने योग्य भाषा हिन्दी का प्रचार होगा।"

परिस्थिति का दूसरा पहलू यह था कि उर्दू-प्रेमी समुदाय देवनागरी और हिन्दी का प्रबल विरोधी था, किन्तु यदि जनता के हितों को ध्यान में रखा जाये और सरकारी अफसरों की सुविधा के लिए भाषा-नीति निर्धारित न की जाये तो किसी भी समस्या का सही समाधान ढूँढ निकालना कठिन नहीं है।

परम आस्तिक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दू धर्म में पूर्ण आस्था रखते हुए और इस्लाम को एकदम भिन्न धर्म मानते हुए हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएँ न मानते थे। वे स्वयं उर्दू के लेखक थे। उन्होंने शेखसादी और मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद पर प्रशंसात्मक लेख लिखे थे। किन्तु धर्म के आधार पर भाषाओं का विभाजन भी हो सकता है, यह सिद्धान्त वे न मानते थे। उनका मत यह था, "हिन्दी और उर्दू में केवल संस्कृत और फारसी आदि के शब्दों के लिए भेद है और सब प्रकार दोनों एक है।" "इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू, दूसरा हिन्दी। दोनों में केवल शब्दों का नहीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते।"

"उर्दू वालों को देखिए कि उनकी भाषा हिन्दी है, उर्दू-हिन्दी में कुछ भेद नहीं है, इतना होने पर भी देवनागरी अक्षर न जानने के कारण हिन्दी से वह उतने ही दूर हैं, जितने बंगाली, मन्द्राजी।

हिन्दी के सम्मुख जो अपार बाधाएँ थीं, उनको दूर करने में बालमुकुन्द गुप्त और उस युग के लेखकों ने अभूतपूर्व त्याग, साहस और लगन का परिचय दिया। गुप्तजी के लेख पढ़ने से उन युग-निर्माताओं की छवि आँखों के सामने घूम जाती है।

मेरठ के गौरीदत्त—उमर साठ साल के ऊपर, चेहरे पर झुर्रियाँ, "तिस पर भी देवनागरी के लिए व्याख्यान देने समय इतना जोश था कि लड़कों की भाँति उछल-उछल पड़ते थे।······आप धनी नहीं हैं, लखपति नहीं हैं, तिस पर भी १२ हजार रुपये नागरी के काम में आपके परिश्रम से व्यय हो चुके हैं।······यह नागरी ही लिखते हैं, नागरी ही पढ़ते हैं तथा नागरी ही में गीत गाते हैं, भजन

अमृतलाल चक्रवर्ती को "एक बार एक स्वजन का जामिन बनकर उनके कर्ज अदा करने में असमर्थ होने से दीवानी जेल जाना पड़ा था।" उन्हें देखने गुप्तजी गये। चक्रवर्ती जी ने अपने मित्र की भावुकता के बारे में लिखा है, "हृदय की वेदना लेकर वह जेलखाने के दरवाजे पर पहुँचा और हृदय के मर्मस्थल से निकलते हुए अश्रुजल से भीगता हुआ अधूरी बातों में कहने लगा, "आपकी यह दशा सही नहीं जाती।" बस गला रुक गया। कण्ठ की बात कण्ठ ही में रह गयी।··· केवल उस अश्रुजल से ही बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मुझ पर वह करुणा वेग समाप्त नहीं हुआ, उनके प्रबन्ध से न उस कारागार में मुझे भोजन, शयनादि का कोई क्लेश रहा और न मेरे परिवार के लोगों को ही अन्न कष्ट भोगना पड़ा।"

माधवप्रसाद मिश्र—"कड़ी समालोचना लिखने में वह बड़े ही कुशलहस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी के लेख लिख कर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखने वाला नहीं दिखायी देता।"

एक बार हरियाने के दोनों वीर लड़ गये। गुप्तजी ने उन दिनों की याद करके लिखा, "इस नाराजगी के दिनों में कभी-कभी मिला करते तो कहते—'बस, अब यही बाकी है कि तू मर जाये तो एक बार तुझे खूब रो लें और हम मर गए तो हम जानते हैं कि पीछे तू रोयेगा।' आज पहली तो नहीं, पिछली बात हुई! याद करते-करते आँसू निकल पड़े। अब नहीं लिखा जाता!"

गुप्तजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनके समस्त मृत्युंजयी सहयोगियों को हम नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करते हैं। उनका चरित्रबल, प्रतिभा, साधना हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में अमर हैं।

गुप्तजी कलाकार थे। वे शब्दों के अनुपम पारखी थे। हिन्दी के साधारण शब्द उनके वाक्यों में नयी अभिव्यंजना-शक्ति से दीप्त हो उठते थे। जो लोग अंग्रेजी की अभिव्यंजना-शक्ति के कायल हैं, वे इन वाक्यों का अनुवाद करें—'भारत की लाटगिरी का पक्का पट्टा विलायत के ईटन कालिज के लड़कों के नाम लिख देना चाहिए।'...'वह उड़े तो आसमान के तारे तोड़ ला सकता है, और नीचे की तरफ जाये तो समुन्दर की काई निकाल ला सकता है।' '...वह (शिक्षित लोगों की बोलचाल) खूब गठीली और चुस्त होती है, गुट्ठल और बेडौल नहीं होती।' '...'अब प्रश्न करने वाले एक प्रश्न कर सकते हैं कि क्यों द्विवेदी जी को इस प्रकार अचानक लालबुझक्कड़ बनकर इस खुदा की सुरमादानी का पता बताने की जरूरत पड़ी।'...'(शासक और नरेश) थोड़े-थोड़े दिन अपनी नौबत बजा गये, चले गये।"

...'यह आपकी बुद्धि की सख्त बहादुरी है।' '...'आपकी लियाकत के झण्डे

गाते हैं, गजल बनाते हैं। नागरी ही में स्वांग-तमाशे करते हैं, नाटक खेलते जब सारा मेरठ शहर नौचन्दी की सैर करता है, तो वह वहाँ देवनागरी का झ गाड़ते हैं।"

देवकीनन्दन तिवारी—"अपनी बनाई पोथियों की गठड़ी बगल में रखते उनको बेचते और बाँटते भी जाते थे। एक मोटी 'कमरी' पहने हुए थे, सिर एक गोल बड़ी भद्दी टोपी थी, जो उस प्रान्त के पुरानी चाल के ब्राह्मण बहु पहना करते हैं। उनके वेश आदि से उनकी गरीबी जाहिर होती थी, पर तेजस्वी थे।"

प्रतापनारायण मिश्र—"हमने उनके मुँह से उनके लड़कपन की कितनी बातें सुनी हैं। सुनकर बड़ी हँसी आती थी···पढ़ने में परिश्रम उन्होंने कभी किया और न कभी जी लगा कर पढ़ा।···फारसी गजलों पर अपने मिसरे लग लगाकर बहुत से मुखम्मस बनाये थे। उनमें कितने ही ऐसे थे कि सुनकर हँसते हँसते आँतों में बल पड़-पड़ जाते थे।···हिन्दी किताबें और हिन्दी अखबार व दिन-रात पढ़ा करते थे। जो पोथियाँ या अखबार रद्दी समझकर फेंक दिये जा थे, उन्हें भी वह पढ़ डालते थे।"

अम्बिकादत्त व्यास, जिनकी मृत्यु से पहले "दो बार मरने की खबर भी उ चुकी थी···कितनी ही भाषाएँ जानते थे। हिन्दी-भाषा के जानने वालों में तो व अद्वितीय थे ही, संस्कृत के भी अच्छे पंडित थे।"

पाण्डे प्रभुदयाल—प्रतापनारायण मिश्र के शिष्य, पाँच साल तक बंगवासी में गुप्तजी के सहयोगी, "हिन्दी के व्याकरण विषय में उनकी पहुँच बहुत बढ़-चढ़ कर थी।"

बाबू रामदीनसिंह, जिनके लिए प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था, ऐसे राम-दीन हितकारी। अपने मित्र के नाम पर उन्होंने खड्ग विलास प्रेस कायम किया था और यहीं से भारतेन्दु ग्रन्थावली प्रकाशित की थी। "मुखमण्डल सदा प्रसन्न रहता था। सबसे हँसकर बातें करते थे।···पुस्तकों के ऐसे प्रेमी थे कि शरीर की धूल न झाड़ते थे और पुस्तकों की धूल झाड़ते थे।"

अमृतलाल चक्रवर्ती—हिन्दी बंगवासी में गुप्तजी के सहयोगी, गुप्तजी के साथ एक ही मकान में रहने वाले, नगर में घण्टों साथ घूमने वाले, हाईकोर्ट के पास गंगा के किनारे चबूतरे पर बैठकर गप लड़ाने वाले चक्रवर्ती जी ने लिखा है, "हिन्दी बंगवासी का आर्डर देने के दिन हम तीनों साथ रहकर 'कलम की राम' बनाते थे। भाषा निर्माण के लिए हमारी लड़ाई ऐसी गहरी होती थी कि किसी-किसी दिन घण्टों काम बंद रहता था। किस प्रान्त के किस शब्द का कहाँ प्रयोग से भाषा का अनुचित आनिष्ट होता, इस पर बड़ी जोरदार बहस होती थी।"

अमृतलाल चक्रवर्ती को "एक बार एक स्वजन का जामिन बनकर उनके कर्ज़ा करने में असमर्थ होने से दीवानी जेल जाना पड़ा था।" उन्हें देखने गुप्तजी गये। चक्रवर्ती जी ने अपने मित्र की भावुकता के बारे में लिखा है, "हृदय की वेदना लेकर वह जेलखाने के दरवाजे पर पहुँचा और हृदय के मर्मस्थल से निकलते हुए अश्रुजल से भीगता हुआ अधूरी बातों में कहने लगा, "आपकी यह दशा देखी नहीं जाती।" बस गला रुक गया। कण्ठ की बात कण्ठ ही में रह गयी।··· केवल उस अश्रुजल से ही बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मुझ पर वह करुणा वेग समाप्त नहीं हुआ, उनके प्रबन्ध से न उस कारागार में मुझे भोजन, शयनादि का कोई क्लेश रहा और न मेरे परिवार के लोगों को ही अन्न कष्ट भोगना पड़ा।"

माधवप्रसाद मिश्र—"कड़ी समालोचना लिखने में वह बड़े ही कुशलहस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी के लेख लिख कर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखने वाला नहीं दिखायी देता।"

एक बार हरियाने के दोनों वीर लड़ गये। गुप्तजी ने उन दिनों की याद करके लिखा, "इस नाराजगी के दिनों में कभी-कभी मिला करते तो कहते—'बस, अब यही बाकी है कि तू मर जाये तो एक बार तुझे खूब रो लें और हम मर गए तो हम जानते हैं कि पीछे तू रोयेगा।' आज पहली तो नहीं, पिछली बात हुई! याद करते-करते आँसू निकल पड़े। अब नहीं लिखा जाता!"

गुप्तजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनके समस्त मृत्युंजयी सहयोगियों को हम नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करते हैं। उनका चरित्रबल, प्रतिभा, साधना हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में अमर हैं।

गुप्तजी कलाकार थे। वे शब्दों के अनुपम पारखी थे। हिन्दी के साधारण शब्द उनके वाक्यों में नयी अभिव्यंजना-शक्ति से दीप्त हो उठते थे। जो लोग अंग्रेजी की अभिव्यंजना-शक्ति के कायल हैं, वे इन वाक्यों का अनुवाद करें—'भारत की लाटगिरी का पक्का पट्टा विलायत के ईटन कालिज के लड़कों के नाम लिख देना चाहिए।'...'वह उड़े तो आसमान के तारे तोड़ ला सकता है, और नीचे की तरफ जाये तो समुन्दर की काई निकाल ला सकता है।' '...वह (शिक्षित लोगों की बोलचाल) खूब गठीली और चुस्त होती है, गुट्ठल और बेडौल नहीं होती।' '...'अब प्रश्न करने वाले एक प्रश्न कर सकते हैं कि क्यों द्विवेदी जी को इस प्रकार अचानक लालबुझक्कड़ बनकर इस खुदा की मुरमादानी का पता बताने की जरूरत पड़ी।'...'(शासक और नरेश) थोड़े-थोड़े दिन अपनी नौबत बजा गये, चले गये।'

[illegible] बहादुरी है।' '...'आपकी लियाक़त के झण्डे

गड़ गये।' ...'जब सता पर सता देखी तो उनका कलेजा पक गया।' इस सर और रोचक भाषा को लोग समृद्ध करने में लगे हैं! गुप्तजी की भाषा को देख विद्वान कह सकते हैं, इसमें क्या है? इसे तो कोई भी लिख सकता है। लेकि विद्वानों के ग्रन्थों में ढूँढिए तो दो वाक्य ऐसे न मिलेंगे जो गुप्तजी के ग्रन्थों टक्कर ले सकें।

गुप्तजी हिन्दी भाषा की प्रकृति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। व अनगढ़ भाषा के कट्टर शत्रु थे। अनस्थिरता शब्द को लेकर उन्होंने आचा महावीरप्रसाद द्विवेदी के विरुद्ध जो लेखमाला प्रकाशित की थी, उसका व्यंग और परिहास, तर्क में उनकी सूझबूझ, शब्द और व्याकरण की समस्याओं पर सरल वाक्य-रचना, सब-कुछ अनूठा है। वाद-विवाद की कला के वह आचार्य हैं।

उनके वाक्यों में सहज बाँकपन रहता है। उपमान ढूँढने में उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता। व्यंग्यपूर्ण गद्य में उनके उपमान विरोधी पक्ष को परमहास्यास्प बना देते हैं।

—"आपके हुक्म की तेजी तिब्बत के पहाड़ों की बरफ को पिघलाती है फारिस की खाड़ी का जल सुखाती है, काबुल के पहाड़ों को नर्म करती है।"

"समुद्र, अंग्रेजी राज्य का मल्लाह है, पहाड़ों की उपत्यकाएँ बैठने के लिए कुर्सी-मूढ़े। बिजली, कलें चलाने वाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़ने वाली दूती।"

अपने व्यंग्य-शरों से उन्होंने प्रतापी ब्रिटिश राज्य का आतंक छिन्न-भिन्न कर दिया। साम्राज्यवादियों के तर्कजाल की तमाम असंगतियाँ उन्होंने जनता के सामने प्रकट कर दीं। अपनी निर्भीकता से उन्होंने दूसरों में यह मनोबल उत्पन्न किया कि वे भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध बोलें।

गुप्तजी ने हर्बर्ट स्पेन्सर के बारे में लिखा था, "उसने कभी कोई उपाधि न ली, कभी राजा का दर्शन करने न गया, कभी धनी की सेवा न की और न किसी सभा का सभापति हुआ।" इन शब्दों में उन्होंने स्वयं अपने जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। उन्हें लोकगीतों से विशेष प्रेम था और उन्हीं की तर्ज पर उन्होंने तीखी राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं। कविता, इतिहास, आलोचना, व्याकरण, उन्होंने जो भी लिखा, उनकी निगाह हमेशा जनता पर रही।

आधुनिक हिन्दी के निर्माता बालमुकुन्द गुप्त की निबन्धावली का प्रथम भाग ही अभी तक प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन भी उनके पुत्र नवलकिशोर जी गुप्त तथा झाबरमल्ल शर्माजी और बनारसीदासजी चतुर्वेदी के प्रयत्न से सम्भव हुआ है। साहित्य अकादमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी गुप्तजी तथा उस युग के अन्य लेखकों की रचनाओं का विशेष रूप से उनके पत्र का—संग्रह प्रकाशित करें, तो हिन्दी को बड़ा लाभ होगा। उस युग से हम

बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस युग के प्रति बहुत से विद्वानो का अज्ञान अक्षम्य है। हिन्दी के विकास पर लाखों रुपये खर्च हो रहे हैं। और जिन्होने उसकी नीव डाली, उनकी रचनाएँ असंकलित पड़ी हैं।

१८ सितम्बर, १६०७ को दिल्ली मे लाला लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला मे गुप्तजी का देहान्त हुआ। उस समय वह बयालीस वर्ष के भी न हुए थे। यह उनकी अकाल-मृत्यु थी। हिन्दी-सेवा मे उन्होंने अपना शरीर गला डाला था। वह भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के सच्चे उत्तराधिकारी थे। उनके गद्य पर कही रोग-शोक की छाया नही है। उसमे दासता के बन्धन तोडने को उठते हुए अभ्युदयशील राष्ट्र का आत्मविश्वास है। उनके गद्य मे भारतेन्दु युग की वह जिन्दादिली है जो विपत्तियो पर हँसना चाहती थी, जिसके नीचे छिपी हुई व्यथा बहुतों की आंखो से ओझल रहती है।

उस युग मे, जब देवनागरी को सरकारी नौकरियो के उम्मीदवार पूछते न थे, जब अंग्रेजी सरकार सन् सत्तावन से सबक सीखकर हिन्दी-भाषी जाति मे हर तरह से विघटन के बीज बो रही थी, जब आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ हुए पच्चीस-तीस साल ही हुए थे, बालमुकुन्द गुप्त ने संसार की भाषाओ में हिन्दी का स्थान निर्दिष्ट करते हुए लिखा था—

"अंग्रेज इस समय अंग्रेजी को ससार-व्यापी भाषा बना रहे हैं और सचमुच वह सारी पृथिवी की भाषा बनती जाती है। वह बने, उसकी बराबरी करने का हमारा मकदूर नहीं है, पर तो भी यदि हिन्दी को भारतवासी सारे भारत की भाषा बना सकें, तो अंग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा पृथिवी पर इसी भाषा का होगा।"

आज पृथिवी पर अंग्रेजी का उतना प्रसार नही है, जितना पचास साल पहले था। लेकिन जितना है, उतना प्रसार बनाये रखने मे अंग्रेजी प्रेमी भारतवासियों का हाथ सबसे ज्यादा है। ससार की पाँच सबसे ज्यादा बोली और समझी जानेवाली भाषाओं मे हिन्दी का स्थान है। उसे संसार की भाषाओं मे अपना सम्मानप्रद स्थान अवश्य मिलेगा, लेकिन तब जब भारत मे पहले अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो। इस प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए जो भी संघर्ष करने हैं, उनके लिए बालमुकुन्द गुप्त का जीवन और साहित्य बहुत बडी प्रेरणा हैं।

●

६ | निराला—अपराजेय व्यक्तित्व
रचनात्मक और ध्वन्सात्मक तत

एक साहित्यिक बन्धु ने निराला के व्यक्तित्व पर पुनर्विचार करने की प्रेर
देते हुए मुझे लिखा है . "पिछले दो एक वर्षों मे कुछ प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा
सकेत दिया गया कि निराला जी के व्यक्तित्व मे अनेक सीमाएँ भी थीं।
अनेक सकेतो मे कई बार शिकायत का स्वर ही रहा है और कभी-कभी दबे
मनोमालिन्य का भी। हम (और आप भी) इस मनोमालिन्य को प्रश्रय नहीं दे
किन्तु हमें यह अवश्य लगता है कि स्वयं निराला ने ही निर्भीक चिन्तन की
परम्परा स्थापित की थी, उसका अनुसरण करते हुए अब समय आ गया है
उस कल्पित वीर पूजा की भावना से मुक्त होकर हम सहज मानवीय धरातल
निराला का सन्तुलित पुनर्मूल्यांकन कर सकें। उनके व्यक्तित्व के कौन से अं
अपराजेय और अदम्य थे तथा कौन से अंश ध्वन्सात्मक और निषेधात्मक।
ध्वन्सात्मक और निषेधात्मक अंश किस अश तक उनके विद्रोही व्यक्तित्व
उभार पाये थे और क्या किन्ही अशो में उन्होंने उनके व्यक्तित्व के रचनात्म
गठन मे क्षति भी पहुँचाई थी ?"

इसमे सन्देह नही, निराला का व्यक्तित्व विद्रोही था; उन्होंने निर्भीक चिंत
की परम्परा स्थापित की, निराला-सम्बन्धी लेखों में तथ्य-निरूपण और साहि
मूल्याकन की अपेक्षा व्यक्तिपूजा की भावना अधिक रही है। और इसमे कि
सन्देह हो सकता है कि उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ थी। किसके व्यक्तित्व क
सीमाएँ नही होतीं ? क्या ही अच्छा हो कि हम उनके व्यक्तित्व से रचनात्म
अश ग्रहण कर लें—और इस प्रकार स्वय अपराजेय बन जाएँ; निषेधात्मक औ
ध्वन्सात्मक अश त्याग दें, निराला के दुख के साथ इन सब त्याज्य अशों को सद
के लिए उनकी चिता पर भस्म हो जाने दें।

किन्तु अभी निराला का सम्पूर्ण साहित्य संकलित और प्रकाशित नहीं हुआ
उनके पत्रों का सग्रह नही हुआ; उनकी जीवनी लिखी नही गयी। न केवल
[illegible], वरन् उनके साहित्य के सम्बन्ध मे भी किंवदन्तियाँ ही अधिक

प्रचलित रही हैं; कुछ निन्दात्मक और कुछ प्रशंसात्मक, कुछ उनके जीवन काल में ही और बहुत कुछ उनके निधन के उपरान्त।

मैं विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि निराला के व्यक्तित्व के पुनर्मूल्यांकन—और सही मूल्यांकन—का समय अब आ गया है। जिन तथ्यों के आधार पर यह पुनर्मूल्यांकन सम्भव होगा, वे निराला-सम्बन्धी अनगिनत संस्मरणों में अप्राप्य है। इसलिए मेरे इस छोटे-से लेख की सीमाएँ स्पष्ट ही है, निराला के व्यक्तित्व की सीमाएँ जो भी हों।

निराला सम्बन्धी किंवदन्तियों और संस्मरणों में जो बात सबसे अधिक उजागर होकर दिखायी देती है, वह उनकी करुणा और दानशीलता है। उनका हृदय अत्यन्त परदुखकातर था, धन-वस्त्र जो कुछ पास हुआ, उसे देकर दूसरे का दुःख दूर करने में उन्हें तनिक भी आगा-पीछा न होता था। उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस से दरिद्र नारायण की सेवा करना सीखा था, उन्होंने दीन-दुखियों में ब्रह्म के दर्शन करके वेदान्त की चरम परिणति की थी।

निराला के धन का व्यय केवल दीन दुखियों पर न होता था, वे मित्रों, अतिथियों, दर्शनार्थियों पर भी—जो न दीन थे, न दुखी—काफी धन व्यय करते थे। फलों और मिठाइयों से तृप्त होने वाले अधिक थे; किन्तु कुछ अन्तरंग बन्धु "तुम तुंगहिमालय धन-अन्धकार" का मन्त्र जपते हुए साहित्य से भिन्न एक अन्य लोकोत्तर रस में डूबकर अपनी निराला-भक्ति का परिचय देते थे। किसी को साड़ियाँ, किसी को दुशाले, किसी को अन्य ऐसी ही कोई वस्तु भेंट करना उनके राजसी स्वभाव का अंग था। आपने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बारे में भी ऐसी कहानियाँ जरूर सुनी होंगी। फर्क इतना था कि हरिश्चन्द्र सेठ अमीचन्द के घराने में पैदा हुए थे और निराला के पिता महिषादल के राजा के यहाँ जमादार थे।

महिषादल के राजा, वहाँ के राजकुमार, आज से पचास साल पहले का वैभव; एक तो राजा, फिर ब्राह्मण, चारों ओर दण्डवत-प्रणाम का वातावरण; विशाल प्रासाद, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ, बन्दूकधारी रक्षक, मीलों क्षेत्र घेरे हुए पार्श्व-भूमि, प्रासाद भूमि की सीमा के बाहर एक ताल के किनारे पण्डित रामसहाय तिवारी का कच्चा घर, जिसका अब महिषादल में नाम-निशान भी नहीं है। अंग्रेजी, बंगला संगीत की शिक्षा पाने वाले महिषादल के राजकुमार, अपनी प्रतिभा की अग्नि से झुलसता हुआ हाई स्कूल फेल बालक सुर्जकुमार।

जब प्रथम महायुद्ध के उपरान्त निराला की पत्नी, चाचा आदि परिवार के अधिकांश सदस्य नहीं रहे—माता का बचपन में; पिता का लड़कपन में देहान्त पहले ही हो चुका था—तब उन्हें चाहिए था कि अपने नन्हे भतीजों और पुत्र-पुत्री का पेट पालने के लिए वे महिषादल में नौकरी करते रहते। किन्तु विश्व-विद्यालयों की डिग्री तो दूर, निराला हाई स्कूल की परीक्षा तक न पास करने

पर भी महिषादल की नौकरी छोड़ केवल लेखनी के सहारे जीविकोपार्जन क भरोसा करके साहित्य के कुरुक्षेत्र में महारथियों के बीच पैदल ही आगे बढ़ चले महाभारत का कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र भले रहा हो, साहित्यक्षेत्र तो निराला के लि शूकर खेत ही था। यह बात अलग है कि तुलसीदास की तरह निराला के ज्ञान नेत्र इस शूकर खेत में ही खुले।

अस्तु; साहित्य के क्षेत्र में आये ही थे तो निराला को चाहिए था कि लोग को साथ लेकर चलते, यदि रत्नाकर की तरह नहीं तो मैथिलीशरण गुप्त कं तरह "सरस्वती" के लिए सरल-सुबोध कविताएँ लिखते। किन्तु यह सब उन्हों नहीं किया, साहित्य में तरह मिलाने के बदले वे साहित्यकारों को तरह देते रहे लोगों ने बदला लिया। निराला ने भी पैंतरे दुरुस्त किये। मार खायी और मार भी। निराला को यथेष्ट मान-सम्मान मिला। कारण यह कि लाख विरोध बे बावजूद वे अपनी ही लीक पर चले। आप चाहे तो रचनात्मक अंशों में इस तर को नोट कर लें कि निराला अपनी कला के प्रति हमेशा सच्चे रहे; इसीलिए उन्हे इतना नाम और यश मिला। लेकिन आप इस समस्या पर भी विचार करें कि महिषादल की नौकरी करते हुए, सम्पादकों-साहित्याचार्यों, तत्कालीन महाकवि से श्रद्धा-सम्बन्ध कायम रखते हुए निराला अपनी कला के प्रति किस हद तव सच्चे रह सकते थे।

क्या ही अच्छा होता कि निराला को जो मान-सम्मान मिला, उससे वे सन्तुष्ट हो जाते, अधिक की कामना न करते। किन्तु हाय री यशोलिप्सा! जो मान-सम्मान मिला, उससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। इससे भी दुखद बात यह कि विरोधी आलोचना से जितना वे क्षुब्ध होते थे, उतना प्रशसात्मक आलोचना से प्रसन्न नहीं। विरोधी आलोचना कितनी ही क्षुद्र और तर्कहीन हो निराला के लिए वह कभी महत्वहीन न होती थी। किसी ने "माधुरी" में लिखा, निराला ने टैगोर की नकल की, मगर असफल रहे, किसी ने "विशाल भारत" में छायावादी कवियों के लिए लिखा, इन्होंने हिन्दू महासभा से अधिक भारतीय समाज का अहित किया; किसी ने "विश्वभारती" पत्रिका में एक लेख अंग्रेजी में लिखा और घोषित किया कि साहित्यकार के रूप में निराला मर गये।

इस तरह का कोई भी फतवा उन्हें कई दिनों तक व्यथित रखने के लिए काफी होता था।

लखनऊ के मकबूलगंज मोहल्ले में एक दिन सबेरे आये। बिना किसी भूमिका के बोले—इसे ठीक करना है। मैंने पूछा—किसे? उन्होंने कहा—वही, तुम्हारा मित्र मुख्यव्यादान सिंह। इस पर भी जब मैं न समझा तो बोले—वही जिसने "विशाल भारत" में प्रगतिशील साहित्य पर लेख लिखा है।

ह्वेवेट रोड पर रेस्तरा में काफी देर तक चुपचाप चाय पीते रहने के बाद

बोले—"गधे उसके बराबर हैं नहीं, लेख लिखने चले हैं।" मालूम हुआ, यह संकेत "माधुरी" के लेखक की ओर था, जो कद मे निराला जी की टाँग के बराबर थे।

इलाहाबाद में हाई कोर्ट के पास वाली सड़क पर शाम को टहलते हुए बोले—"मैंने कहा, बहुत शायरी छाँटोगे तो अभी मुसरा खड़ा करेंगे।"

(यानी सरके बल खड़ा करेंगे।) यह इलाहाबाद के एक बदनाम शायर के प्रति उनकी उक्ति थी, जिन्होंने निराला समेत समस्त हिन्दी के कवियों की रचनाओं को पागलों की बड़बड़ाहट कहा था।

इलाहाबाद के एक सम्पादक के लिए उन्होंने कहला भेजा था—तुम्हारे लिए चमरौधा भिगो रखा है।

यह समस्त हिंसा शब्दों तक सीमित थी। उन्होंने दो प्रकाशकों को भी पीटा था, यह मुझे मालूम है। किन्तु किसी भी विरोधी साहित्यकार पर उन्होंने हाथ नही उठाया, चमरौधा उठाना तो बहुत दूर की बात थी। शब्दों के माध्यम से क्षोभ एक हद तक निकल जाता था, किन्तु पूरी तरह नहीं। मन में कलमष रह ही जाता था। निराला इसे खार कहते थे। आईने में चेहरा देखकर कहते थे, अब वह बात नहीं है, खार छा गये हैं।

कल्पना कीजिए कि निराला ने व्यक्तिगत आक्षेप करने वाले किसी एक लेखक पर भी आवेश में अपना वरद हस्त रख दिया होता तो उनके विरोधियों की संख्या कितनी कम हो गयी होती, उनका क्षोभ कितना शान्त हो गया होता। किन्तु यह सब होना नहीं था। उनके व्यक्तित्व की सीमाएं जो थीं।

परिणाम यह कि विरोधी आलोचना से क्षोभ बढ़ा, उसी परिमाण में मान-सम्मान की आकांक्षा बढ़ी। निराला के अहंकार को कौन नहीं जानता ? गवर्नर मुंशी निराला से मिलना चाहते हैं ? मिलना चाहते हैं, तो ऊपर आ जायें। निराला नीचे उतरकर उनसे मिलने क्यों जायें ?

निराला को पद-पद पर अपमानित होने की आशंका रहती थी। सम्मान-रक्षा की भावना कभी-कभी असन्तुलित अहंकारकी व्यंजना-सी लगती थी। काश उनमें यह अहंकार न होता ! वेदान्ती निराला इस अहं भावना से परे होते ! किन्तु भवभूतिकी पंक्तियाँ वे बड़े प्रेम से दोहराया करते थे :

उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समान धर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

और इसके समर्थन मे गालिब की यह पंक्ति भी वे गुनगुनाते थे :

हम सुखनफ़हम हैं गालिब के तरफदार नहीं।

। अहंकार उनका कवच था। इसी के सहारे वे समाज के सम्मान प्राप्त
. साहित्य के कर्णधारों के विद्रूप का सामना करते थे। वे यह कवच

देखा था, और उनके पिता वहाँ सिपाहियों के जमादार थे।

पैसा हाथ का मैल है, धन मिट्टी है—इस सत्य को निराला सन्यासी की तरह समझते थे। समाज में मान-सम्मान पैसे से मिलता है, धन की चकाचौंध मे मनुष्य के सब दुर्गुण छिप जाते है, इस सत्य को निराला किसी भी मसारी की अपेक्षा अधिक समझते थे। देश का भविष्य हिन्दी के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु वर्तमान मे तो राजभाषा अंग्रेजी ही है, निराला ये दोनों बातें जानते थे। अहकार, क्षोभ, मान-सम्मान की भावना क्षुद्र है, यह वे जानते थे, किन्तु जब बड़े बनने की बात है तब समाज मे पुजने वाले लोग मुझसे किस बात मे बड़े है, यह चुनौती देने खड़े हो जाते थे।

बड़े आदमियों के बीच में ही उनके बड़प्पन का भाव जाग्रत होता था। दारागज की तंग गली के सामने कोठी देखकर ही उन्हे महिषादल के राजप्रासादो की याद आती थी। लखनऊ में हीवेट रोड के फुटपाथपर बैठी हुई भिखारिन को देखकर उनके बड़प्पन के भाव उस "देवी" में समाहित हो गये थे। कुल्ली के गाव मे अछूत बालको को दूर से ही दोनों में फूल रखकर जाते देख उनकी आँखें छलछला आयी थीं। लखनऊ मे कांग्रेस-पण्डाल के बाहर नगे पांव, भूखे पेट एक दक्षिण भारतीय युवक मे उन्होंने भारत की आत्मा के दर्शन किये थे। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि साधारण, उपेक्षित और दुखी जन को देखकर वे अपनपौ खो बैठते थे।

छोटे आदमियो के बीच वे कभी अंग्रेजी नही बोले।

अब यह विशेषता रचनात्मक है या ध्वन्सात्मक, आप स्वय तय करे।

उतारकर फेंक सकते थे, किन्तु सब वे सन्यासी होते, यह नहीं। अहंभाव—प्रच्छन्न अथवा प्रकट—बहुतों में है। किन्तु इस अहंभाव के साथ निराला का सा कवित्व कितनों में है? निराला जैसा है, वैसा ही ग्रहण करना होगा—अपने समस्त क्षोभ, अहंकार, मान-सम्मान की आकांक्षा के साथ। समाज के लिए जो विष है, साहित्य के लिए उसी से निराला ने अमृत प्राप्त किया था।

जीवन के अन्तिम चरण में जब निराला का तन-मन जर्जर हो गया था, तब उनकी मान-सम्मान की भावना, उनका अहंकार अनेक विकृत रूपों में प्रकट होता था। बहुतों ने इस बात को देखा-सुना और लिखा है कि निराला अक्सर अंग्रेजी बोलने लगते थे। जिस व्यक्ति ने आजीवन हिन्दी साहित्य की साधना की थी, जो हिन्दी के सम्मान के लिए आजीवन लड़ा था, वह अन्तिम प्रहर में अंग्रेजी बोलने में गौरव का अनुभव करता था। किन्तु निराला को गौरव मिलता तो कैसे? किस उपाय से गौरव की आकांक्षा पूरी होती? जीवन भर हिन्दी लिखकर देख लिया। अब अंग्रेजी बोलकर देखो। आखिर देश में जितने पुजने-पुजाने वाले बड़े आदमी हैं, वे अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं या नहीं? जवाहरलाल नेहरू सबसे ज्यादा अभिनन्दित; अंग्रेजी लिखने-बोलने के लिए उतने ही प्रशंसित। तब निराला अंग्रेजी न बोले?

प्रश्न यह था कि समाज में प्रतिष्ठा कैसे मिले? साहित्यिक रूप में वे महान हैं, इसका उन्हें विश्वास था। अपने कल्पना-लोक में वे न ग़ालिब बनते थे, न रवीन्द्रनाथ, न तुलसीदास। वे अपने को इनसे घटकर न मानते थे; अपने को छोटा मानते थे, केवल सन्यासी से। वे अपने मनोलोक में स्वामी विवेकानन्द से छोटे थे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर से नहीं। इसलिए अपने सपनों में उन्होंने कभी अपने को रवीन्द्रनाथ या तुलसीदास कल्पित नहीं किया; वे भीतर-बाहर निराला ही रहे। किन्तु रवीन्द्रनाथ और जवाहरलाल की तरह वे विलायत यात्रा कर आये थे, लार्ड घराने के लोग, स्वयं महारानी विक्टोरिया उनका अंग्रेजी बोलना सुनकर चकित रह गयी थी। ऐसे थे उनके सपने।

समाज में सम्मान मिला अंग्रेजी लिखने-बोलने वालों को, इनके अलावा उन्हें मिला जो राजा हैं, धनवान हैं। जो पास में होता था, निराला उसे तो राजा की तरह दे ही देते थे, जो दूसरों का है, कल्पना में अपना मानकर उसका भी दान कर देते थे। जब बनारस में उनकी पचासवीं वर्षगांठ का समारोह हो रहा था, तब गंगा में नाव की सैर करते हुए उन्होंने किनारे की कई आलीशान इमारतें—मित्रों के अनुसार श्री घनश्यामदास बिड़ला की इमारतें—दिखाकर मुझसे कहा था—"तुम्हारे लिए अपनी रायल्टी से मैंने ये इमारतें बनवा दी हैं।"

काश वे समझते कि इन इमारतों का मूल्य उनके साहित्य की तुलना में कुछ भी नहीं है। किन्तु वे महिषादल में पैदा हुए थे, उन्होंने राजकुमारों का वैभव

देखा था, और उनके पिता वहाँ सिपाहियों के जमादार थे।

पैसा हाथ का मैल है, धन मिट्टी है—इस सत्य को निराला सन्यासी की तरह समझते थे। समाज में मान-सम्मान पैसे से मिलता है, धन की चकाचौंध में मनुष्य के सब दुर्गुण छिप जाते हैं, इस सत्य को निराला किसी भी मदारी की अपेक्षा अधिक समझते थे। देश का भविष्य हिन्दी के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु वर्तमान में तो राजभाषा अंग्रेजी ही है, निराला ये दोनों बातें जानते थे। अहंकार, क्षोभ, मान-सम्मान की भावना क्षुद्र है, यह वे जानते थे, किन्तु जब बड़े बनने की बात है तब समाज में पुजने वाले लोग मुझसे किस बात में बड़े हैं, वह चुनौती देने खड़े हो जाते थे।

बड़े आदमियों के बीच में ही उनके बड़प्पन का भाव जाग्रत होता था। दारागंज की तंग गली के सामने कोठी देखकर ही उन्हें महिषादल के राजप्रासादों की याद आती थी। लखनऊ में हीवेट रोड के फुटपाथपर बैठी हुई भिखारिन को देखकर उनके बड़प्पन के भाव उस "देवी" में समाहित हो गये थे। कुल्ली के साथ में अछूत बालकों को दूर से ही दोनों में फूल रखकर जाते देख उनकी आँखें छल-छला आयी थीं। लखनऊ में कांग्रेस-पण्डाल के बाहर नंगे पाँव, भूखे पेट एक दक्षिण भारतीय युवक में उन्होंने भारत की आत्मा के दर्शन किये थे। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि साधारण, उपेक्षित और दुखी जन को देखकर वे अपनपौ खो बैठते थे।

छोटे आदमियों के बीच वे कभी अंग्रेजी नहीं बोले।

अब यह विशेषता रचनात्मक है या ध्वन्सात्मक, आप स्वयं तय करें।

७ | हिन्दी भूषण बाबू शिवपूजन सहाय

वे पुरानी पीढी के बुजुर्ग साहित्यकार थे। उम्र मे निराला जी से बड़े थे। 'हंस' मे एक चित्र छपा था जिसमे वे मुशी नवजादिकलाल के साथ कुर्सी पर बैठे हैं और निराला जी पीछे खड़े हैं। जवान, नौजवान और अधबैसू (प्रौढ़वय वाले) साहित्यकार उनसे मिलते थे, तो उनकी सज्जनता, उनकी शिष्टता और विनम्रता से बेहद प्रभावित होते थे। लेकिन वे पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यकार थे; उनका रग-ढग समझना आसान नही था।

काशी मे निराला जी के साथ उन्हे देखकर उनकी विनम्रता के सम्बन्ध मे मेरी आस्था को पहला झटका लगा। वे खूब प्रसन्न थे, अनेक बार मिलने पर उन्हें उतना प्रसन्न कभी नही देखा। उस प्रसन्नता मे वे एक दिन के लिए अपनी विनम्रता भूल गये थे। निराला जी के प्रति उनका व्यवहार सहज मित्र जैसा था। वे एक युगप्रवर्तक महाकवि के साथ हैं, महाकवि ब्राह्मण हैं, इसलिए कायस्थ गद्य लेखक के लिए परमपूज्य हैं, इस सबका उन्हे ध्यान था; श्रद्धा के अतिरेक की छाया भी कही दिखाई न देती थी। जब किसी तरुण साहित्यकार से मिलते, तब क्षण भर के लिए विनम्रता लौट आती मानो कहते—आप महान, मैं आपकी चरणरज, मुझ पर कृपा दृष्टि रखिए ! किन्तु क्षण भर बाद फिर उसी प्रसन्नता में खो जाते मानो निराला जी की कृपा दृष्टि की उन्हे तनिक भी चिंता न हो। मानो यह कोई दूसरा शिवपूजन था जिसने सखा-भाव से निराला को अपने ब्याह का न्योता भेजते हुए—हल्दी के छीटो से अभिषिक्त पोस्टकार्ड पर लिखा था : "यह मेरे शुभ विवाह का सादर सप्रेम निमन्त्रण है। कृपया सहर्ष स्वीकार करके सोत्साह [illegible] ता० २० मई (१६२८) को १२ बजे दिन की गाड़ी से बनारस छावनी [illegible] मण्डली प्रस्थान करेगी।"

[illegible]वती सधवा छिपाना चाह कर भी अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पाती, [illegible] बाबू शिवपूजन सहाय निराला पर अपने अतुल अधिकार और [illegible] को छिपाने मे असमर्थ थे।

उनकी विनम्रता एक कवच है जिससे साहित्य-जगत के आँधी-बवण्डरों
अपनी रक्षा करते हैं। यह बात अस्फुट भाव-बीज बनकर मन की पर्तों में
रही और क्रमशः स्पष्ट विचार के रूप में मूर्त होकर कई वर्षों के बाद प्र
हुई।

मैं सन् '४२ से उनके पीछे पड़ा था कि वे निराला जी के सम्बन्ध में
संस्मरण लिख डालें। उन्होंने उत्तर दिया था, श्री महा शिवरात्रि संवत् १
के अपने पत्र में—"श्री निराला जी के विषय में मैं यदि लिखूंगा तो हिन्दी-सं
उसे पसन्द न करेगा। लोक-रुचि के लिए वह रोचक न होगा, सह्य भी न होग
मैंने लिखा कि मैं उनके पास संस्मरण लिखने आ सकता हूँ; एक बार सारी
लिपिबद्ध हो जाय, उसे प्रकाशित चाहे जब करायें। उन्होंने उत्तर दिया—'
इधर आने का कष्ट क्यों करेंगे। मैं ही सोच रहा हूँ। पूज्य निराला जी से भी
हो जायगी। अनेक वर्षों पर उन्होंने स्वयं मेरे घर यहाँ पधार कर दर्शन दें
कृपा की थी। पर उनका स्वागत न बन पड़ा। स्वागत करने वाली तो स्वर्ग
गयी। किन्तु निराला जी मुझ पर उसी समय से बड़ा स्नेह रखते हैं जिस सम
उनका परिचय हुआ—आज से बीस बरस पहले। इस दीर्घकाल के अन्दर
उलट-फेर हुए। बहुत-सी स्मृतियाँ धुंधली पड़ गयीं। कितने ही नाम भूल
घटनाओं का क्रम भी अस्त-व्यस्त होकर दिमाग में पड़ा है। सबकी कड़ियाँ
का उपक्रम कर रहा हूँ। मैं आपकी सेवा में लिख-लिखकर भेजता जाऊँगा
जो याद पड़ जाय, लिखता जाऊँगा।" यह पत्र उन्होंने रंगभरी एकादशी,
को लिखा था।

कहना न होगा कि उन्होंने कुछ भी लिखकर न भेजा। कुछ दिन पहले
भय था कि जो कुछ लिखेंगे, वह लोगों को सह्य न होगा; अब वह धुंधली स्
के सहारे जब जो याद पड़ता जायगा, लिखते जायेंगे—यह बात विश्वास
योग्य न थी। इसी पत्र में उन्होंने आगे फिर लिखा था—"कठिनता यही
कुछ स्वर्गीय मित्रों की आत्मा को भी कष्ट पहुँचाना पड़ेगा, तभी कटु सत्य
हो सकेगा। जीवितों से अधिक उन्हीं की चिन्ता है। अच्छा, अब तो जो भी

वास्तव में उन्हें प्रेतबाधा का भय न था, भय था सजीव भूतों से। वे व
दर-दर भटककर यह सीख चुके थे कि वर्तमान समाज में सच बोलने से
दूसरा पाप नहीं है। निराला का चित्र उनके सामने था; दूसरा निराला
लिए वे जरा भी उत्सुक न थे। अपने अन्तिम दिनों में—विशेषकर निराल
निधन के बाद—उन्होंने बहुत-से संस्मरण लिखे। सचाई यह है कि उन्होंने
लिखा है, वह आंशिक सत्य है; महत्वपूर्ण कटु सत्य को प्रकट न करने में ही
बुद्धिमानी समझी।

आदेशो की जरूरत नहीं है। समाज के निहित स्वार्थी जन साहित्यकार को
करते हैं कि वह अपनी खैर चाहता हो तो सचाई के पीछे पड़ न पड़े।

महाशिवरात्रि वाले पत्र में उनका अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है, : '
विरुद्ध प्रचार' और 'उनके जीवन-संघर्ष' आदि पर आप जो उचित समझें, लि
पर उसमें मेरी सहायता न लें तो अच्छा होगा। कारण, कितने ही ऐसे कठो
और कटुतम सत्य प्रकट करने पड़ेंगे, जिनसे बहुतों का आत्महनन होगा और
लोगों की आत्मा मुझे शाप देगी तथा कई जीवित सज्जन मानहानि के लिए
उजाड़ डालेंगे। मैं दुनिया में बसने न पाऊँगा। 'कलकत्ता वाले साहित्यिक
असाहित्यिक जीवन' के विषय में लिखते समय ज्वलन्त सत्य को छिपाना कष्ट
प्रतीत होगा; पर उसे व्यक्त करना भी मौत बुलाना होगा।"

इसमें एक भी शब्द अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। ये बातें उन्होंने टालने के लि
लिखी थी। उन्हें जीवन में इतना त्रास मिला था, गृहस्थी के भार से वे इतने
हुए थे, जीविका के लिए उन्हे इतना अथक परिश्रम करना पड़ता था कि कटु स
प्रकट करना सचमुच मौत बुलाना ही था।

उन्होंने शरीर को गलाकर किस तरह परिश्रम किया था, यह उन्होंने अ
प्रकाशित साहित्य में नहीं लिखा। आत्मीयतापूर्ण पत्रों में कहीं-कहीं उसकी झल
मिल सकती है। २९ मार्च १९५९ के पत्र में उन्होंने लिखा था—"लिखने
इच्छा रहते भी कार्यव्यस्तता और अस्वस्थता के कारण मन की बात मन में
रह जाती है। आँखों से भी लाचार हो गया हूँ। स्मृतिशक्ति भी दिन-दिन क्षी
होती जा रही है। बहुत ही अधिक, अतिरिक्त परिश्रम से तन-मन की क्षमत
क्षीण हो गयी। परिस्थिति से विवश होकर शरीर को अत्यधिक रगड़ना पड़ा
मस्तिष्क और नेत्र पर जबरदस्ती करने का फल अब भुगत रहा हूँ।"

तिल-तिल कर शरीर का छीजना, परिस्थितिवश आँखों से आवश्यकता
अधिक काम लेना, रोगी शरीर को अन्त समय तक विश्राम न देना, उनकी
विनम्रता के नीचे छिपा हुआ उनका कठिन जीवन-संघर्ष, उनकी अपार थक
और निस्सीम वेदना उनके अधिकांश प्रशंसकों की दृष्टि से ओझल रहती थी
क्षीण दृष्टि वाले बाबू शिवपूजन सहाय के नेत्रों के सामने, पटना की एक गली
में तख्त पर लेटे हुए अतीत के चित्र झिलमिलाने-से आते थे और उमड़ते हुए
आँसुओं में डूब जाते थे। गंगापर नौका-विहार, प्रसादजी का साथ, निराला
का संगीत···

"निरालाजी के दर्शन और सत्संग के लिए प्राण तरसते हैं। उनके स्नेह का
स्मरण नेत्रों को सजल और हृदय को विह्वल कर देता है, पर रोगी शरीर ने मन
को पंगु कर दिया है। आपने उनके द्वारा 'रामचन्द्र कृपालु भजु मन' के गाये जाने

सुनाया था। महाकवि प्रसादजी भी थे। हारमोनियम पर अजन्ता गुफा की सी अँगुलियाँ थिरकने लगीं और अजन्ता के मंदिरो के चित्र जैसे नेत्रो के सामने मण्डराने लगे। प्रसादजी साश्रु नेत्रों से उन्हें निहारते ही रहे।" (२६ मार्च,' ५६ का पत्र)

शिवपूजनजी मतवाला-मण्डल के अन्यतम सदस्य थे। 'मतवाला' और 'जागरण' मे अपनी चुटीली हास्यरस की टिप्पणियो के लिए वे विख्यात थे। 'साहित्य' की एक टिप्पणी में उन्होने रूपनारायण पाण्डेयजी का ऐसा शब्द चित्र आंका था जो किसी बहुत ऊँचे दर्जे के कलाकार के लिए ही सम्भव था। वे कलाकार थे। कलाप्रेमी थे। कलाकारो के भक्त थे। अपनी बातचीत में इस कलाप्रियता का परिचय देते थे। निरालाजी की तरह आनन्द और उल्लास, व्यंग्य-विनोद और परिहास से उन्हें सहज स्नेह था। जिन्दगी के थपेडो ने उन्हे ध्वस्त करके उल्लास की भूमि में करुणा का स्रोत प्रवाहित किया। निराशा और थकन, अनचाही परिस्थितियो मे निरानन्द परिश्रम की वेदना उन्हे अनुभव करनी पड़ी।

"साहित्य-सम्मेलन मे राजनीतिक प्रपच का" अखाड़ा खुल गया है। 'साहित्य' छपकर प्रकाशित हो गया है, पर डाक-टिकट के अभाव से बाहर नही भेजा जा रहा है।···

"हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं मे चुनाव और अधिकारलिप्सा के कारण अकर्मण्यता व्याप्त हो रही है। यह बड़ी चिन्ता और ग्लानि का विषय है। मैं तो त्यागपत्र देकर उस प्रपंच से अलग हो गया हूँ, केवल 'साहित्य' का काम हाथ मे रह गया है। बारहवां वर्ष पूरा करके उसे भी छोड़ने का विचार है। अब शक्ति नही है।" (पहली मई सन् '६२ का पत्र)

यह पत्र मिलने के एक महीने बाद मैंने उनके दर्शन किये। कुछ समय के लिए मतवाला-मण्डल के हास्यरस लेखक बाबू शिवपूजन सहाय उस क्षीण और जीर्ण शरीर मे फिर लौट आये। धुधली आँखें अन्तर्ज्योति से प्रदीप्त, कण्ठ निराला-संस्मरणो के आनन्द से उच्छ्वसित, विवश करने वाली परिस्थितियो पर नरसिंह के समान आरूढ़ हिन्दी भूषण शिवपूजन।

तख्त पर पड़े हुए प्रूफ देखते थे। हाथ का पंखा लिए गर्मी से शरीर की रक्षा करते थे। कभी सम्मेलन के दफ्तर मे सबेरे जाकर शाम को लौटते थे। उनका चेहरा देखने से पता न चलता था कि वे दस घण्टे परिश्रम करके उठे हैं। शरीर परिश्रम से इतना कस गया था कि और पसीना निकलने की गुंजाइश न रह गयी थी।

कुछ ही दिन बाद सुना आचार्य शिवपूजन नहीं रहे।

बाबू श्यामसुन्दर दास की तरह उनके नाम के साथ हमेशा बाबू शब्द जुड़ा रहा। [illegible]-प्राप्ति के बाद वे आचार्य हो गये। निरालाजी उन्हें पत्र लिखते

थे तो पते पर उनके नाम के साथ 'हिन्दी भूषण' लिखना न भूलते थे।

हिन्दी भूषण बाबू शिवपूजन सहाय के अक्षर कितने सुन्दर होते थे। जब वह छपरा के राजेन्द्र कॉलेज में अध्यापक थे, तब तो कभी-कभी घसीट भी लिखते थे, यद्यपि अक्षर तब भी बिल्कुल स्पष्ट होते थे। किन्तु जैसे-जैसे आँखों की ज्योति क्षीण होती गयी, उनके अक्षर अपनी रूपरेखा में और भी निखरते गये। गेहूं की भरी बालो पर मोती की तरह चमकती हुई ओस की बूँदों जैसे उनके अक्षर, शब्द से भिन्न और अभिन्न, पत्र को अपने व्यक्तिगत सौन्दर्य से आलोकित करते हैं। निरालाजी के अक्षरो की वक्रता उनमे नहीं है किन्तु सादगी, स्पष्टता और दृढ़ता उनमे ज्यादा है। निरालाजी के अन्तिम दिनो में महाकवि के अक्षर शिथिल वृहदाकार हो गये थे। शिवपूजनजी के अक्षरों में पहले से ज्यादा कसाव आ गया था; ओस की बूंदों जैसे अक्षर, ढली हुई फौलाद जैसे भी थे, साँचे मे ढलने के बाद जैसे पत्र पर जम गयें हों।

"आँखो ने ज्ञान के द्वार बन्द कर दिये। किसी तरह स्मरण-शक्ति के सहारे 'साहित्य' की टिप्पणियाँ लिख लेता हूँ, नहीं तो सारा काम मेरे आदरणीय मित्र नलिनजी ही करते हैं। आधी आँखो से कभी-कभी आवश्यकता-वश कुछ लिखना भी पड़ता है, तो सन्तोष नही होता। आँखो को उत्पीडित करके अन्दाज पर पत्र लिख जाता हूँ; पर पता नही क्या-क्या लिख गया।" (२६ मार्च, १९६२ का पत्र) इसीलिए कहा, बाबू शिवपूजन सहाय पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यकार थे; उनका रंग-ढंग समझना आसान नही था।

८ | ये कोठेवालियाँ

श्री अमृतलाल नागर लिखित 'ये कोठेवालियां' पढ़कर मन में तरह-तरह के विचार उठे। कोठेवालियों से पहले मैं उनके जीवन का चित्र आंकने वाले कलाकार के बारे में सोचने लगा।

कलाकार बम्बई की फिल्मी दुनिया में पहुँचने से पहले लेखक-रूप में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। तस्लीम लखनवी के नाम से वह 'नवाबी मसनद' लिख चुके थे। 'चकल्लस' साप्ताहिक ने हिन्दी संसार में धूम मचा दी थी, और वृद्ध आचार्य द्विवेदी से सरस सार्टिफिकेट प्राप्त कर लिया था। नागरजी ने 'मरघट के कुत्ते' जैसी कहानी लिखी थी जिसमें सामन्ती समाज का सारा कोढ़ मानो एक साथ मरघट के अघोरी में फूट पड़ा था। यह कहानी 'माधुरी' में छप चुकी थी। उनकी और भी कहानियाँ हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपीं। उन्हें जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और शरच्चन्द्र चटर्जी जैसे साहित्यकारों का सम्पर्क और प्रोत्साहन सुलभ हो चुका था।

इससे अच्छी परिस्थिति किसी लेखक के विकास के लिए और क्या होगी? और यह सब परिस्थिति अंग्रेजी राज में सुलभ थी! अंग्रेज लेखक कभी-कभी सोवियत-संघ में लेखकों की गुलामी से अंग्रेजी राज में लेखक की सुविधा और स्वाधीनता की चर्चा करते हैं। देखिए, नागरजी अपनी कला का विकास करने में स्वाधीन थे या नहीं।

रोजी की तलाश में नागर जी बम्बई गये—फिल्म में काम करने। यह बात न थी कि कहानी लिखने से वह ऊब गये थे और अब सिनेरियोकला को चमकाना चाहते थे। बात यह थी कि कहानियाँ लिखने से रोजी की समस्या हल न होती थी। अंग्रेजी राज की कृपा से अधिकांश हिन्दी जनता निरक्षर बनी रही। नागरजी के करोड़ों संभाव्य पाठक उनकी कहानियों के पाठ-सुख से वंचित रहे। इसके अलावा पूँजीवादी प्रकाशन-व्यवस्था में—उनके पाठकों की संख्या सीमित रहने पर भी—उनके श्रम का जो मूल्य उन्हें मिलना चाहिए था, वह उन्हें नहीं मिला।

इस कारण लेखन की स्वाधीनता का रस लेते हुए उन्होंने फिल्मी दुनिया का दरवाजा खटखटाया।

फिल्म-निर्माता और सेठ जी मे अनबन हुई। कंपनी बंद हो गई। मेहरबान सेठ वेतन दिलाते रहे—सबको नहीं, केवल नागर जी को: 'वेतन का कुछ भाग मैं अपने पास रखता, बाकी घर भेज देता था।' साथ में उनके दोस्त श्री महेश कौल थे जिन्होंने फिल्मी दुनिया मे काफी प्रसिद्धि पाई। कभी-कभी उनके घर से कुछ मदद पहुँच जाती थी, फिर भी 'ज्यों-ज्यों दिन गुजरने लगे हमें खाने के भी लाले पड़ने लगे। हमारे पास इतना ही बजट था कि सुबह एक कप चाय के साथ चार कच्ची स्लाइसें खा लेते थे और शाम को तीन आने में आधा प्लेट मराठी 'खाणावल' (भोजनालय) का सस्ता मोटा और पानी के घूँटों उतरने वाला चावल। शाम की चाय की तलब हमें अक्सर मारनी ही पड़ती थी। पान-सिगरेट की आदत भी मजबूरी के आगे बुझ गई। पैसे की आठ बीड़ियों में छः का तम्बाकू निकाल कर बीड़ी वाले द्वारा दिए गए मुफ्त के चूने या अक्सर दीवार के चूने को खुरच कर हम सुरती-चूने की चुटकी से पान की तलब मिटाते थे।"

जिस घर मे रहते थे, उसी मे कोठेवालियों में से एक खूलू की माँ भी रहती थी। उसकी बात बाद मे। सेठ जी चले गये देस। पन्द्रह तारीख को वेतन मिलता था; उसके बाद पन्द्रह दिन और बीत गये। फिर भी वेतन न मिला। "हमारी चार स्लाइसों और शाम के अक्षरशः मुट्ठी-भर मोटे, एक प्रकार के बदबूदार भात का राशन भी खतरे मे पड़ गया था···शाम की आधी राइसप्लेट का भोजन भी हमारे लिए चौथे, पाँचवें दिन का पकवान हो गया था। सुबह की चार-चार स्लाइसें दो-दो के हिसाब से सुबह और शाम का भोजन बन गईं। लेकिन समस्या हमारे सामने यह थी कि शाम को दो स्लाइस खा कर पानी पीने से हमारी भूख थोड़ी ही देर बाद और बढ़ जाती थी। उसे रोकने का सरल उपाय यही था कि चाहे सिंगल कप (अर्थात् आधा कप) ही हो, मगर चाय का घूंट बहुत आवश्यक था। चाय के साथ दो स्लाइसें नाश्ता बनकर हमारी भूख को बहला देती थीं। मगर शाम की सिंगल कप चाय ने हमारे पैसे की आठ बीड़ियों में पान-सिगरेट की तलब बुझाने वाला नुस्खा बड़ी गड़बड़ मे डाल दिया था।"

इसके बाद की बहुत-सी बातें उद्धृत करने योग्य हैं। उन्हें छोड़ देता हूं, यह सोच कर कि पाठक उन्हें स्वयं पढ़ लेंगे (या पहले ही पढ़ चुके होंगे)। फिल्मी दुनिया मे नागरजी ने ठोकरें खाईं, आगे बढ़े, सफलता मिली और फिर लखनऊ वापस आ गये। भारत स्वाधीन हुआ और—"सन १९५० ई० में राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद जी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि वेश्याओं से भेंट करके कोई व्यक्ति उनके सुख-दुख का हाल लिखे।"

नागरजी के पत्रकार मित्र ने "प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया के संवाददाता को यह

सूचना दे दी कि नागर देनारत्न राजेन्द्र बाबू की इच्छापूर्ति के लिए यह काम करेगा।"

नागर जी ने काम सँभाला। लखनऊ में जो सामग्री बटोर सकते थे, बटोरी। लेकिन स्वाधीन भारत के लेखक की मजबूरियाँ देखिए। अब नागर जी 'बूँद और समुद्र' के यशस्वी लेखक बन चुके थे। मान-प्रतिष्ठा वह सैकड़ों से ज्यादा प्राप्त कर चुके थे। प्रकाशक उनका मुँह जोहते थे। नई-पुरानी पीढ़ियों के लेखक उनके भक्त या मित्र थे। स्वभाव ऐसा कि उनसे अमित्र भाव मुमकिन ही नहीं। साहित्य-जगत् में अभूतपूर्व सफलता पाने वाले हिन्दी लेखक नागर जी ने 'ये कोठेवालियाँ' के पृ० १६६ पर लिखा है। 'साहित्यिक कार्यों की इच्छा और इस मँहगाई के जमाने में गृहस्थी के खर्च की दौड़ मुझे एक साथ और हरदम दो सिरों पर दौड़ाती रहती है।' अर्थात् पूरी तैयारी से पुस्तक लिखने के लिए आवश्यक धन नहीं है। "मैंने अपनी स्थिति से समझौता कर लिया। जब तक उठी हुई समस्या का समुचित समाधान नहीं पा जाऊँगा, तब तक तो उसका पीछा अवश्य करूँगा। यथा-शक्ति धन भी व्यय करूँगा और उसके बाद पेट-पालन हिताय अपने ज्ञानार्जन प्रोग्राम में कटौती कर जाऊँगा।"

पेट पालने के लिए ज्ञानार्जन-प्रोग्राम में कटौती! फ्रीवर्ल्ड में लेखक की स्वाधीनता के हामियो, सुना आपने? इस प्रोग्राम में कटौती का मतलब है लेखन में कटौती, कला के रूप-निखार में कटौती! पूँजीवादी व्यवस्था में लेखक इस तरह की 'स्वाधीनता' से टकराता हुआ अपनी कला की साधना करता है!

रूस में समाजवादी क्रान्ति होने के बाद लेनिन ने लिखा था कि वहाँ छोटे पैमाने के उत्पादन का प्रसार होने के कारण जगह-जगह नित्य नये सिरे से पूँजीवाद की उत्पत्ति होती है। यह सत्य नागर जी की पुस्तक में पूरी गहराई से उभर कर आया है— 'लूलू माँ की कहानी' के सिलसिले में। यह गढ़ी हुई कहानी नहीं, लेखक की आप बीती है।

जिन दिनों नागर जी अपने मित्र श्री महेश कौल के साथ बीड़ी से तम्बाकू निकाल कर सुरती की तलब बुझाते थे, उनके फ्लैट के एक हिस्से में 'लूलू की माँ' आकर रहने लगी। रसोईघर से मिर्च-मसाले की गन्ध बिल्कुल न आती। छोटा बच्चा लूलू नागर जी के दरवाजे कभी-कभी मुँह में उँगली दबाये आकर खड़ा हो जाता था। फिर एक दिन पति-पत्नी की तीखी कहासुनी की भनक कानों में पड़ी। फिर पतिदेव गायब हो गये। भूखे लूलू को अधभूखे लेखक के मित्र ने रोटी का टकड़ा दिखाया। 'धीरे-धीरे करके साढ़े तीन स्लाइस बच्चा खा गया। हम समझ गये बच्चा भूखा था, तब माँ भी अवश्य भूखी होगी।" शाम को लौटने पर लूलू ने आकर फिर कहा, 'अंकल ब्रेड'। लूलू की माँ उसे घुड़क कर भीतर ले गई। लेखक और उनके मित्र ने एक डबल रोटी और दो 'सिंगल कप' चाय लेकर पड़ोसिन का

शाली होता जा रहा है। इसीलिए एक दुखिया ने नागर जी से कहा—"मैंने सोचा, हमारी भी तकलीफें पब्लिक तक पहुँचें और हमें कोई बतलाये कि हम क्या करें।"

कला के प्रेमी, समाजशास्त्र के विद्यार्थी, समाज-सुधारक कार्यकर्ता एक बार 'ये कोठेवालियाँ' पढ़ें। इतिहास-चर्चा से जी ऊबे तो भी धैर्य से पढ़ें। यह कहानियों की पुस्तक नहीं है, यद्यपि उसमें कहानियाँ भी हैं। उसमें बहुत से अनुभवों और अध्ययन का निचोड़ है। समझदार के लिए वह एक अंकुश है जो हृदय में चुभकर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देगा।

९ | इतिहास पर कलात्मक ग्रंथ—गदर के फूल

अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रान्ति के शताब्दि-महोत्सव के अवसर पर कथाकार श्री अमृतलाल नागर अवध मे अपने पुरखो की स्मृति के फूल बीनने निकले। लगभग तीन सौ पृष्ठो की यह पुस्तक उनकी उस तीर्थयात्रा का परिणाम है। पुस्तक की विशेषता यह है कि जितनी वह सन् सत्तावन के वीरो और वीराङ्गनाओं पर है, उतनी ही स्वयं श्री अमृतलाल नागर पर भी। हम उन्हे पुरातत्वज्ञ के रूप में जगह-जगह गुप्तकाल की ईंटें टटोलते देखते हैं। अरक्षित दशा मे पुरातत्व की सामग्री बिखरी हुई देखकर उनका हृदय कचोट उठता है . "चारों ओर ईंटें ही ईंटें बिखरी हुई हैं—मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा जैसे रणक्षेत्र मे हजारो सैनिकों के शव पडे हो।" हम नागरजी को कुशल भाषा-विज्ञानी अनुसन्धानकर्ता के रूप मे देखते हैं जिन्होने अवध के काफी हिस्से का भाषा-सर्वेक्षण कर डाला है और स्थानीय बोलियो के नमूनो का बहुमूल्य सग्रह प्रस्तुत कर दिया है। नागर जी दार्शनिक और विचारक के रूप में सामने आते हैं जो इतिहास-लेखन से सन्तुष्ट न होकर उससे दार्शनिक परिणाम भी निकालना चाहते हैं।

नागरजी सोचते हैं, वह पिछला समय कैसा था। लगता है, अजीब और भद्दा सा था। नई शिक्षा का प्रचार क्यों हुआ ? लोगो मे सदियो की सामाजिक घुटन से उबरने की इच्छा थी। पाठक को लगता है, अंग्रेजों ने इस नयी शिक्षा का प्रचार करके लोगों के उबरने की इच्छा को कार्य रूप मे परिणत कर दिया। एक सदी पहले हमारे पुरखे अपने ज़माने के बारे मे क्या सोचते थे ? नागर जी का विचार है, "हमारे लगभग एक सदी पहले के पुरखों को अपना ज़माना पसन्द नहीं आ रहा होगा तभी तो वे बदलने के लिये अग्रसर हुए।" सन् सत्तावन मे हम हारे। फिर क्या हुआ ? "सन् सत्तावन के बाद सारा देश एकदम से नया हो उठा।" और "अंग्रेजी भाषा के सहारे उसने अपनी स्वतन्त्रता खोने से अधिक पायी।" यानी ईश्वर सब अच्छा ही अच्छा करता है। सन् सत्तावन मे हारना ही हमारे लिये मगलकारी हुआ। वर्ना इस महान् अंग्रेज़ी भाषा के सहारे हम अपनी स्वतन्त्रता

खोने से अधिक कैसे पाते ? इस अधिक पाने में श्री मजूमदार और श्री सेन जैसे असमीन इतिहासकारों की कितनी भी होनी चाहिए।

और जिस जमाने में भारतीय वीर अंग्रेज़ों से लड़े थे, जब अंग्रेज़ी पढ़कर उन्होंने सर्व शक्तिमान सरकार के सामने दरख्वास्त लगाना न सीखा था, वह जमाना कैसा था ? "मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वह पिछला जमाना, जिसकी प्रशंसा हमारे पुरखे हम से और हम अपने नौजवान बच्चों से करते हैं, कई दृष्टियों से निहायत सड़ा और घुटन भरा था।" स्पष्ट है कि सन् सत्तावन से पहले का जमाना जितना घुटनभरा था, बाद का जमाना उतना ही घुटनमुक्त था वर्ना हम अपनी स्वाधीनता को खोने से अधिक पाते नहीं।

यहाँ हमें अंग्रेज लेखक क्रूक की बात याद आती है। उसने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) पर १८९७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में सन् सत्तावन के भारत से बाद के भारत की तुलना करते हुए लिखा था, "उस समय यह देश आज की तुलना में हमारा मुकाबला करने में अधिक समर्थ था।" और भी, "स्वयं जनता के मन में युद्ध की परम्परा जीवित थी; इसलिये आज की तुलना में वह कहीं अधिक दुर्जय (much more formidable) थी।" यदि क्रूक की बात सही हो तो मानना होगा कि बाद की तुलना में सन् सत्तावन के लोग अधिक निर्भीक और अंग्रेज़ों से लड़ने-मरने के लिये ज्यादा तत्पर थे। यह जरूर है कि उन्होंने हिंसा का सहारा लिया। आज का ज़माना देखिये, अहिंसा से भारत स्वाधीन हुआ और अहिंसा से एक नये राष्ट्र पाकिस्तान का जन्म हुआ। यह मानते हुए कि पुरानी गौरव-गाथाओं से हमें प्रेरणा मिलती है, नागरजी का विचार है, "युद्ध में स्वपक्ष के गौरव से भर कर भी युद्ध के दृश्यों से घृणा होती है।" क्या ही अच्छा होता कि प्राचीन गौरव की धरोहर हमें मिल जाती और युद्ध के भयानक दृश्य कल्पना में न देखने पड़ते। भारत का इतिहास निर्मित करने में विधाता यहीं चूक गया।

श्री जी॰ पी॰ श्रीवास्तव और हास्यरस की चर्चा करते हुए नागर जी ने कुछ कमजोरियाँ इस युग की भी बतलाई हैं यद्यपि इनके लिए भी प्राचीन भारत ही अधिक दोषी है। लिखा है, "हमारे देश में चूँकि हज़ारों वर्ष की पुरानी संस्कृति, दर्शन, इतिहास की अटूट परम्परा चली आ रही है, इसलिए हमारे बच्चे पैदा होते ही बूढ़े हो जाते हैं।" काश, यह अटूट परम्परा न होती तो बच्चे पैदा होने पर नौजवान तो हो जाते ! इस तरह के दार्शनिक चिन्तन ने पुस्तक का काफ़ी हिस्सा घेरा है। वैसे इस तरह की चिन्तन-सामग्री नागरजी के 'बूँद और समुद्र' में भी यथेष्ट है। यदि इन दोनों पुस्तकों में से निकाल कर उसे वे एकत्र छपवा दें—'जैनेन्द्र के विचार' या ऐसी ही किसी पुस्तक के रूप में—तो हम जैसे आलसी पाठकों का बड़ा उपकार हो। कलाकार नागर द्वारा दी हुई कथावस्तु सुगठित रूप

में एक जगह मिल जाय और कथा के पात्रों के साथ नागर जी के अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन करने की आवश्यकता न पड़े।

'गदर के फूल' एक इतिहास-लेखक की रचना नहीं है। इतिहास-लेखक घर बैठे किताबें पढ़कर पुस्तक लिखते हैं, उन्हें जनता मे फैले हुए सजीव इतिहास से क्या मतलब ? यह पुस्तक एक कथाकार की लिखी हुई है, एक कुशल चित्रकार की जो अपने वातावरण की हर चीज को बारीकी से देखता है, जो व्यंग्य और हास्य की सामग्री प्राचीन इतिहास और वर्तमान समाज दोनों में ढूंढ लेता है। बौद्धिक स्तर पर उसका चिन्तन जैसा भी हो, उसकी सहृदयता असन्दिग्ध है। अवध के गाँवों मे जाकर बूढ़ों को तलाशना, उनकी बतलाई हुई बातें उन्ही की बोली बानी, उन्ही की शैली मे लिख लेना, साथ ही हर जगह के वातावरण का सजीव चित्रण करना—यह काम नागर जी के अलावा हिन्दी मे कोई दूसरा आदमी न कर सकता था। कितने उत्साह से लोगों ने उनकी सहायता की। केवल परम पवित्र अयोध्या मे महावीर जी के मन्दिर के सामने एक महन्त जी ने नागर जी की श्रद्धा की चिन्ता न करके टके-सा जवाब दे दिया था : "यहाँ साधू लोग रहता है, भजन करता है; इतिहास-फितिहास के प्रपंच में नहीं पड़ता।" इस अपवाद को छोड़ देने पर हर जगह साधारण जनता और शिक्षित वर्ग ने नागरजी का स्वागत किया और सहायता की। जनता का यह सहयोग ही इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि वह सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को बड़े गर्व से याद करती है।

इस पुस्तक में हम शेख अब्दुल अली किदवाई की बातें सुनते हैं। उनकी बातों से लगता है कि जनता अपना इतिहास मौखिक ढंग से सुरक्षित रखती है। गदर देखने वालों मे भागू नाई था। उसने सन् सत्तावन की घटनाओं पर आल्हा लिखा था; वह आल्हा शेख साहब ने सुना था और शेख साहब से नागर जी ने सुना। भागू नाई जनकवियों का प्रतिनिधि था। जिस उत्साह से वह आल्हा सुनाता था, वह सन् सत्तावन के वीरों के प्रति किसान-जनता का प्रेम प्रकट करता था। शेख साहब के शब्दों में "उस आल्हे को सुनाते-सुनाते भागू की यह कैफियत हो जाती थी कि बदन की एक-एक नस तन जाती थी, और बड़े जोश में आ जाता था, लेकिन राजा बलभद्र सिंह का नाम आते ही आँखों में आँसू आ जाते थे और आवाज कमजोर पड़ जाती थी।"

इस पुस्तक मे साहबदीन का वर्णन है जिन्होंने नवाबगंज की लड़ाई देखी थी। नागर जी ने इनका कलात्मक चित्र खींचा है। उनकी बातचीत किसी भी उपन्यास के पात्र से कम रोचक नहीं। जनता अपने वीरों के बारे मे कैसे किंवदन्तियां रच लेती है, इसकी मिसाल साहबदीन की वार्ता है। पट्‌नारी के तरुण वीर बलभद्र सिंह अंग्रेजों से लड़े। मारे जाने पर भी उनका धड़ युद्ध करता रहा। "तब दुपहर भर बिना गरदन लड़ास लड़ी।" जब अंग्रेजों का बस न चला "तब एक औरत मगाई

गे, जब उयि लहास छुयि लिहिस तब गिर पड़े।" और बेगम हजरत महल कैसे चरित्र की थीं, इस प्रश्न का बहुत ही नपातुला जवाब साहबदीन ने दिया, 'जस अउरत क सील धरम होत है वइसी रहें।"

इस पुस्तक मे बलभद्र सिंह के भतीजे ननकऊ सिंह का चित्रण है। "दाँत करीब-करीब सब बरकरार हैं। आँख कान चले गये, परन्तु आवाज अब भी कड़कदार है।" उन्होंने नागर जी को बतलाया, "जउने सन मा कक्का जूझे रहे नवाबगंज माँ, वह साल हम पैदा भयन।" उन्होंने "जगनामा" मँगवाया। हाथ से टटोल कर पहचाना कि वही पुस्तक है, फिर "बड़े जोश में आकर कवित्त सुनाने लगे।" इस तरह श्री अमृतलाल नागर ने अपने परिश्रम के फलस्वरूप इतिहास के जीवित स्वर सुने।

पुस्तक में जनता की वीरता और वीर-पूजा की अनेक रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन है। राजा देवीबख्श सिंह के टूटे सिंह द्वार के सामने आज भी मुसलमान ताजिये टिकाते हैं और उस पर "इतना जल-पुष्प चढ़ाते हैं कि कीचड़ हो जाता है।" सन् सत्तावन से चली आती हुई हिन्दू-मुस्लिम एकता की परम्परा की यह एक मिसाल है। फैजाबाद मे दो देशभक्तों को फाँसी दी गई थी। जनता उस पेड़ को पूजती रही; १९३५ में उस वृक्ष के राज्यद्रोह से अप्रसन्न होकर अंग्रेजों ने उसे कटवा डाला। मौलवी फजलहक खैराबादी ने विद्रोह में भाग लिया। उन्हें काले पानी की सजा हुई; वहाँ उन्होने विद्रोह का इतिहास लिखा। अपने पोते के अनुसार "यह किताब उन्होने जेल के अफसरान से छुपकर कहीं फटे पायजामों की चिन्दियों मे, पत्तो पर, चमड़े पर, लिख-लिखकर जो कैदी हिन्दुस्तान की तरफ आने गये उनके हाथो मेरे वालिद के पास भेजते गये।" वीरतापूर्ण इतिहास के लिखने वाले भी वीर थे। इस तरह की घटनाओ के साथ पुस्तक में अंग्रेजों की बर्बरता और आतंक का भी उल्लेख है जिसे जनता आज तक भूली नहीं है।

जनता की अनुपम वीरता के वर्णन के साथ नागर जी ने बहुत से लोकगीत दिये हैं, कविताएँ दी हैं जिनसे जनता की भावना अच्छी तरह समझती है। वह यदि वीरों की पूजा करती है तो देशद्रोहियों से उत्कट घृणा भी करती है। किसी गाँवो में अंग्रेजों ने अपने मददगार एक सिख को कुछ जमीन दी। गाँव वाले रास्ता बतलाते हुए अब भी कहते हैं, "अउगी ते चले जाव, आगे गद्दारन केर घर परी।" इसी तरह नवाब मक्खी का नाम गद्दार का पर्याय हो गया, "जो डसता तो मक्खी निकल गया।" इस तरह की मिसालें बतलाती हैं कि अंग्रेजों के प्रति घृणा को एक व्यापक जन-आधार मिला था। नागरजी ने ठीक लिखा है, "वाह री जनता! तेरे शब्दों और मुहावरों के पीछे कितना इतिहास भरा होता है!" नागर जी जब किस्सा के सूत्र में नहीं होते, तब जनता में घुल मिल जाते हैं। यदि लोकगीतों की तरह इस लोक-कथा की कल्पना करें तो कह सकते हैं कि कथाकार नागर का मन

लोक-मंच बन जाता है। उन्होंने अंग्रेज भक्तों—अंग्रेजी राज की "स्वाधीनता" का लाभ उठाने वाले अगण्य सज्जनों—के बारे में उचित आवेश से लिखा है, "सत्तावनी क्रान्ति के असफल होने के बाद अनेक 'स्वाभिमानी' क्षत्रिय, ब्राह्मण और उच्च वर्गीय मुसलमान ताल्लुकेदार अंग्रेजों के प्रति खैरख्वाही दिखलाते हुए उनके तलवे चाटते थे। अंग्रेजों के सार्टिफिकेट बटोरने की, नाक रगड़ने की बात देख, यह सोचकर हैरत होती है कि आखिर हमारे इन ताल्लुकेदार पुरखों का क्षात्र धर्म और स्वाभिमान कहाँ चला गया था।"

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। नागर जी जब इस रसदशा मे होते हैं, तब भारतीय इतिहास पर उनकी टिप्पणियाँ—और वे इस दशा मे सश्लिष्ट ही होती हैं—बड़ी मार्मिक होती हैं। विद्रोह में नेतृत्व किसका था? अग्रदल की भूमिका किसकी थी? जनता को बटोरने और संगठित करने का काम किसने किया था? नागर जी का स्पष्ट उत्तर है, "सिपाहियों के जोश से अफीमची, विलासी और अपने मिथ्या दंभ में सगोतियों के सिर पर रण धुनने की कायरता रखने वाले, फूट में पड़े सामन्तों की भुजाओं में भी क्षात्र-रक्त हुमक पड़ा।" अर्थात् प्रमुख भूमिका सामन्तों की नहीं थी वरन् सिपाहियों की थी। देश की पराधीनता का कारण बतलाते हुए उन्होंने ठीक लिखा है, "वीरता की कमी के कारण नहीं वरन् फूट के कारण भारत गारत हुआ।" सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के सिलसिले में यह तथ्य ध्यान में रखना और भी आवश्यक है क्योंकि अंग्रेजों ने अपनी वीरता और अनुशासन के अतिरंजित चित्र खींचे हैं और भारतीय पक्ष को असंगठित, अनुशासन हीन और कायर दिखलाया है। यदि स्काटलैंड, आयरलैंड और वेल्स के सामन्त रोमनों या नार्मनों से मिल जाते और अंग्रेजों को अपनी स्वाधीनता के लिए युद्ध करना पड़ता तो जो कठिनाइ उनके सामने आती, वही कठिनाई १८५७ में उत्तर भारत के लोगों के सामने थी। नेपाल, कश्मीर, अफगानिस्तान, राजस्थान, मध्यभारत, हैदराबाद और बंगाल के राजा और जमींदार अंग्रेजों के साथ थे। भौगोलिक दृष्टि से अंग्रेजों ने विद्रोह-क्षेत्र को अपनी मित्र-पांति से घेर लिया था। इस क्षेत्र के अन्दर भी उनके सैकड़ो सामान्त-मित्र मौजूद थे। तोपों की कमी के अलावा सन् सत्तावन में भारतीय जनता की पराजय का यह मुख्य कारण था।

इस पुस्तक को पढ़कर लगता है कि लखनऊ के बाहर कितने "बूँद और समुद्रों" की सामग्री बिखरी पड़ी है। नागर जी शहर ही नहीं गांव के लोगों में घुलमिल जाने की कला मे बहुत दक्ष हैं। इस कला में हम सभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। पुस्तक में उनके सैलानी रूप की छाप है। बरसते पानी में कहीं खेत-मंजीरों के साथ वे लोकगीत सुनते हैं, कहीं नेपालगंज के पेड़ों की ...
झूमकर अधीर हो उठते हैं, कहीं "...

उठे।" और रसोई पवित्र करने के बदले खाट पर ही जम गये। सारी पुस्तक में अवध की बेगम कथा के मूल सूत्र की तरह विद्यमान हैं। उपन्यासकार वृन्दावन-लाल जी वर्मा महारानी लक्ष्मी बाई को पूजते हैं तो बेगम हजरत महल को लेकर नागर जी का भावावेश दूसरे स्तर का है। जब बेगम के बारे में लिखते हैं तो इतिहास और रोमान्स घुलमिल जाते हैं। और लखनऊ में मौलवी अहमदुल्लाशाह का इतिहास टटोलते हुए लतीफन पतुरिया के यहाँ पहुँचे। "उसकी अवस्था ८५-९० बरस की है।" कद्रदान नागर जी को पाकर ऊँचा सुनने वाली मुसम्मात लतीफन ने कहा, "आप बड़ी दूरि से आये हैं, हम क्स्सिा नहीं सुना सके, पर एक ठईं लावनी जरूर सुने जाव।" और नागर जी के शब्दों में "बी लतीफन ने अपनी पिच्चासी की आयु को जवानी के दिनों की सान पर चढ़ा दिया।"

"गदर के फूल" जनता के जीवित इतिहास, चुटकुलों, लतीफों, लोकगीतों, रोमांचकारी घटनाओं, अनोखे रेखाचित्रों का पिटारा है। श्री अमृतलाल नागर की कलम का यह कमाल हमें एक नहीं दो युगों की अनुपम झांकी देता है।

१० | अमृतलाल नागर के उपन्यास म
अमृत और विष

'धर्मयुग' (२७ नवम्बर '६६) में श्री धर्मवीर भारती ने 'अमृत और वि
की इतनी अच्छी आलोचना लिखी है कि जी करता है, नागर जी के इस उपन्या
पर मैं खुद कुछ न लिखूं, महज भारती के लेख की दाद देकर उपन्यास-लेखक
बधाई दे दूँ। लेकिन मेरे मित्र घनश्याम अस्थाना जो १५ अक्तूबर सन् '६६
मुझसे उपन्यास माँग ले गये थे और ४ जनवरी सन्' ६७ को उसे वापस कर ग
साथ में एक पत्र भी दे गये और मैंने सोचा, नागर जी ने उपन्यास के अन्
उपन्यासकार अरविन्द शंकर का चित्रण करके मनोवैज्ञानिक करिश्मे दिखाये
तो इस उपन्यास के पाठको-आलोचकों की प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्यय
करते हुए मैं एक छोटा-सा लेख ही लिख डालूँ। मैं अपने इस लेख के कृपा
पाठकों-पाठिकाओं से आशा करूँगा कि उन्होंने श्री अमृतलाल नागर का उपन्या
'अमृत और विष' न पढ़ा हो तो पढ़ लें, इसी तरह 'धर्मयुग' का उपर्युक्त ले
और अन्त में घनश्याम अस्थाना का पत्र, जिसे मैं नीचे उद्धृत कर रहा
अस्थाना जी नागर जी के प्रशंसक हैं; इसके सिवा उपन्यास पढ़ने में उन्हें
कुछ समय लगा, वह ज्यादा ही होता यदि मैं उनसे प्रायः हर हफ्ते उपन्यास
वापसी का तक़ाज़ा न करता। अब उनका पत्र·

"४-१-१९६७

प्रिय डाक्टर साहब,

'अमृत और विष' नये वर्ष में लौटा रहा हूँ। पता नहीं, यह उपहार कै
लगे—पहली बात तो यह कि यह वापिसी है, उपहार नहीं; दूसरी बात यह
इस पुस्तक को अगर यह बिलकुल नये सिरे से भेंट की जाती—तो आप केव
इसी रूप में नववर्ष का उपहार मान सकते थे कि यह हिन्दी के मूर्धन्य कथाक
और उससे भी अधिक आपके अनन्य मित्र श्री अमृतलाल नागर की कृति।
इसके अतिरिक्त मैं इसके गुण के विषय में क्या कह सकता हूँ ?

इसे लौटाने में इतनी देर क्यों हुई ? आप जानते हैं, पढ़ने-लिखने का इन

ताओं के मायस्यंत्र की सूची में रेखांकित रसा है, अकेले उसी कार्य के लिए उनको ससम्मान डी. लिट. की डिग्री प्रदान करके हिन्दुस्तान या विदेश की कोई भी युनिवर्सिटी धन्य हो सकती है। अपने इसी विपुल जीवन-अध्ययन और ज्ञान का उपयोग नागर जी ने अपने देश और विदेश में सराहे गये उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में किया था और उसी सामग्री का उपयोग उन्होंने 'अमृत और विष' में किया है। मगर 'अमृत और विष' अपनी इस सम्पदा के अनन्तर भी न तो 'बूंद और समुद्र' की व्यष्टि को ठोस रूप से बाँध पाया और न ही समुद्र की-सी सहज गहन गम्भीर समष्टि में व्याप्त हो सका। 'अमृत और विष' की एक महत्वपूर्ण बल्कि कहा जाए तो विकट, समस्या यह है कि उसका आद्यन्त कहाँ-कैसे पकड़ा ठहराया जाए और दिलचस्प बात यह है कि यह समस्या उपन्यासकार अमृतलाल नागर को या उपन्यास के मुख्य चरित्र ('हीरो' नहीं) उपन्यासकार अरविन्द शंकर को नहीं सालती बल्कि पाठक घनश्याम अरयाना या उस जैसे सामान्य-बुद्धि, किन्तु नागर-फ़ैन, हिन्दी उपन्यास-प्रेमी को बार-बार तंग करती है। पाठक को एक साथ ही दुहरी-दुहरी यात्रा करनी पड़ती है, कथा-सूत्र उस बछड़े की तरह उसे इधर-उधर खींचता है जो कि खूँटा तुड़ा कर या रस्सी छुड़ा कर भाग जाना चाहता है। उपन्यासकार अरविन्द शंकर का वंश-परिचय याद रखने की दिक़्क़त पड़ती है—कितने पुत्र हैं, कितनी पुत्रियाँ हैं, बार-बार घूम-घूमकर देखना पड़ता है कि दीनमुहम्मद-राधेलाल की फ़र्म का कोई सम्बन्ध लाला राधेरमन-रेवतीरमन की फ़र्म से तो नहीं है? फिर याद आता है कि यह राधेलाल उपन्यासकार अरविन्द शंकर के पूर्वज थे और लाला राधेरमन उनके उपन्यास (यानी उपन्यास के भीतर के उपन्यास) के एक चरित्र हैं। नागर जी ने एक साथ इतने अधिक कथासूत्र, कथानायक और कथापात्र छोड़े हैं कि घटनाक्रम का तारतम्य पाठक के लिए बिठाना मुश्किल हो जाता है। उपन्यास की गति या प्रगति के लिए यह भी ज़रूरी है कि उनका आगा-पीछा जाना जाए, मगर 'अमृत और विष' के पाठक के लिए करीब-क़रीब यह बात भी अनिवार्य है कि वह हर पात्र की वल्दियत से भी वाक़िफ़ हो, चाहे उसका उपन्यास के प्रधान कथासूत्र (जिसका पहचानना बड़ा मुश्किल है) से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो या नहीं। पात्रों की इस विशाल भीड़ में पैठने के लिए पाठक का मन तो इसलिए करता है कि यह उपन्यास-नवाब (उपन्यास-सम्राट् के तर्ज़ पर) अमृतलाल नागर का बसाया हुआ रंगीन और जीवन की पेंगें भरता हुआ लखनऊ है, मगर वह लखनऊ निकलता है एक बेदम उपन्यासकार अरविन्द शंकर द्वारा निर्मित, जिसमें दुनिया-भर के बेसिर-पैर के निरुद्देश्य चरित्र अपनी समस्त सजीवता के अनन्तर भी पाठक का मन रमाने में एकदम असमर्थ और अक्षम हैं। घटनाचक्र यथार्थ के अत्यधिक निकट होकर भी उपन्यासकार की कल्पनाशक्ति की सुविधा और 'मनोकांक्षा' की

तुष्टि के आधार पर विकसित होता चलता है।

'अमृत और विष' का कथानक एकदम उलझा हुआ और लक्ष्यहीन है। लम्बी-लम्बी कथाओं और अनेक घटनाओं, पात्रगत विशेषताओं के बावजूद उपन्यास का प्रवाह बन्द पानी का प्रवाह मात्र ही है। उपन्यास की इस भीड़-भरी दुनिया में किसी भी पात्र को पकड़ कर चलना मुश्किल है, चाहे वह रमेश हो, लच्छू हो, स्वयं लेखक हो, डाक्टर आत्माराम हो, रानी हो, कुँवर रघुसिंह हो या कोई और। किन्हीं भी कोई प्रतिबद्धता, कोई ठोस आधार भूमि है ही नहीं। अधिकांश पात्र विचारहीन ही नहीं, गतिहीन भी हैं, रमेश के आशीर्वाद की परिणति किरण रानी के साथ विवाह में ही हो जाती है, आगे के रमेश का चरित्र 'इण्डिपेंडेंट' अखबार के एक ऐसे संवाददाता के रूप में विकसित भर हो पाता है जो कि उस विराट् अखबारी-साम्राज्य का एक कठपुतली मात्र है और अपने अखबार के लिए सनसनी-खेज खबरें जुटाने में, न सही सम्पादक होकर, मगर 'लिबर्टी' का संवाददाता भर बनकर रह जाता है। लच्छू जैसा ओजस्वी युवक जिसके चरित्र का प्रारम्भ अनेक सम्भावनाओं से भरा हुआ था, एकाएक ऐसे चरित्र के रूप में विकसित होता है जो कि अपने को जानबूझ कर न केवल 'हारम लेक' की कामिनियों की काम तुष्टि का साधन ही बना लेता है और अपनी 'वेश्यावृत्ति' (?) के पारि-श्रमिक स्वरूप प्यार की सैर भी कर आता है, बल्कि वहाँ से लौटकर भी 'ज्यों की त्यों चदरिया' धर कर लखनऊ के राजनीतिक महत्वाकांक्षी-यशाकांक्षी पूँजी-पतियों के चरणों को सिर्फ इस वजह से धो-धोकर पीता है कि उसे भी कुछ जूठन मिल जाए। और मजे की बात यह है कि लच्छू उसी युवक-संघ का शीर्षस्थ सदस्य है जिसके अन्य सदस्यों ने राजा किशोरी राय की बारादरी को हथियाने के लिए पूँजीपतियों की कुटिल चालों के विरुद्ध भूख हड़ताल चलायी थी। नागर जी ने लच्छू के चरित्र के इस विकास (?) या प्रगति (?) को प्रमाणित करने के लिए जो मंजिलें निर्धारित की हैं वे न तो भरोसा दिलाने वाली हैं और न ही बहुत अधिक तर्क संगत। यही बात 'अमृत और विष' के पात्रों की लम्बी भीड़ के बारे में अलग-अलग रूप से कही जा सकती है। डा० आत्माराम अपने व्यक्तित्व में जवाहरलाल नेहरू और शांतिप्रसाद जैन दोनों के लक्षण समेटे हुए हैं और एक छाया-मात्र से अधिक कुछ भी नहीं बन पाते। जितनी बार वे स्वयं उपन्यास के घटनाचक्र मेअवतरित होते हैं उससे कई गुना अधिक ईश्वर की चर्चा की भाँति उनका श्रद्धावनत गुणगान उपन्यास के पृष्ठों मे गुंजित होता है। उनके विराट् अखबारी साम्राज्य की महिमा वैसी ही गुणकारी लगती है जैसी कि किसी अम-रीकी 'न्यूज़पेपर-मैगनेट' के महान् चरित्र (?) की। पता नहीं क्यों, कोई भी चरित्र, कोई भी घटना ऐसी नहीं जोकि उपन्यास के अज्ञात कथानक को आगे . । कई एक घटनाएँ ऐसी हैं जो कि किसी जासूसी उपन्यास को चार-चाँद

लगा सकती थीं और किशोर-कल्पनाओं को उत्तेजित कर सकती थी, मगर जो 'अमृत और विष' के लिए न तो जीवन्त ही है और न ही विशिष्ट। पता नहीं, नागर जी को उनकी नाटकीय सम्भावनाओं ने इतना क्यों ललचाया कि 'अमृत और विष' उनके समावेश का लोभ वे संवरण नहीं कर सके। 'अमृतलाल नागर की गरिमामयी लेखनी से ये सनसनीखेज घटनाएँ कुछ अप्रत्याशित और अनपेक्षित ही लगती हैं।

सारा का सारा उपन्यास जानबूझ कर एक ऐसी दलदल में जा फँसा है जहाँ से अन्त में उसे उबारना अमृतलाल नागर जैसे कुशल कथाकार और कलाकार के लिए भी संभव नहीं हो पाया है। जाने-पहचाने प्यारे-प्यारे उभरते हुए पात्रों और जानी-पहचानी घटनाओं की खिस्तरत सीढ़ियों पर चढ़-चढ़ कर इधर उठती हुई इस उपन्यास की इमारत काले बाजारी, चोर बाजारी, खलों के हथकण्डों के हथौड़ों, फावड़ों की चोटों में सहसा ही ढहने लगती है। उपन्यासकार ने कई इधर-उधर की बल्लियाँ इधर-उधर से लगाने की कोशिश की है, मगर इसकी नींवें खुद उसी की गैर जानकारी में खोदी जा चुकी हैं और उपन्यास का सारा ढाँचा ही मुँह के बल आ पड़ता है।

'अमृत और विष' के बारे में और भी बहुत कुछ तथा अधिक विस्तार के साथ कहा जा सकता है (और मैं उसके लिए तैयार भी हूँ), मगर ये कुछ बिखरे-बिखरे विचार और आत्मीय किस्म की प्रतिक्रियाएँ हैं जो मैंने इन पंक्तियों में व्यक्त करने की कोशिश की है। उपन्यास में 'ताई' जैसा चरित्र ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा यद्यपि पुत्ती गुरु का चरित्र ऐसा है, जिसमें कुछ विशिष्टता है मगर वे भी मामूली पात्रों की श्रेणी में रखे गये हैं जो कि उनकी और उपन्यास की, दोनों की ही 'ट्रैजेडी' है।

मैंने जानबूझ कर पुस्तक के अन्त में दी गयी आपकी सम्मतियाँ अभी तक नहीं पढ़ी है—ये सब मेरी तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ ही हैं। मुमकिन है अधिक गहरे विचार के बाद इनमें मुझे संशोधन या आमूल परिवर्तन करना पड़े और इसके लिए मैं हमेशा तैयार रहूँगा। पता नहीं, नागर जी इस पत्र से खुश होंगे या नाराज। जो भी हो।

सस्नेह,

घनश्याम अस्थाना"

जब मैं घनश्याम अस्थाना के इस पत्र की नकल कर रहा था एक मित्र जो आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस में काम करते हैं अचानक आ गये और 'अमृत और विष' की चर्चा छिड़ने पर बोले "मैंने एक दो अध्याय पढ़े, फिर आगे पढ़ा नहीं गया।" ये मित्र सौभाग्यशाली थे जो उपन्यास पढ़ने का साहस बटोर ही न पाये; घनश्याम अस्थाना इस सौभाग्य से वंचित रह गये; उन्होंने अपने को बाध्य किया

कि उपन्यास आदि से अन्त तक पढ़ ही डालें और जब तीन महीने में आप कोई उपन्यास पढ़ेंगे तब 'अन्त' तक पहुँचने-पहुँचने आदि का हिसाब-किताब भूल जाना बिलकुल स्वाभाविक होगा।

मुझे अपना एक अनुभव याद आता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति बी० ए० में मुझे चार्ल्स लैम्ब के निबन्ध पढ़ाया करते थे। कक्षा में जब पुस्तक समाप्त हुई तब मैं लैम्ब से काफी घृणा करने लगा। किन्तु परीक्षा के लिए पुस्तक फिर पढ़ना जरूरी था और मैं दो-तीन दिन में सारे निबन्ध एक साथ पढ़ गया। तब से मैं सदा के लिए चार्ल्स लैम्ब के गद्य का भक्त हो गया।

यदि कोई इस पुस्तक से रस-सिक्त होना चाहे तो उसे तीन महीने में न पढ़े। या तो हफ्ते दस दिन मे उसे समाप्त कर दे या फिर मेरे उपर्युक्त मित्र की तरह उसे उठा कर एक तरफ रख दे। मैं मानता हूँ कि उपन्यास और पाठक के बीच उपन्यासकार अरविन्द शकर बहुत बडी दीवार बन कर आ खड़े होते हैं। आरम्भ के हिस्से मैं धैर्य से और जल्दी-जल्दी पढ़ गया, जैसे बहुत साल पहले मैंने विक्तर ह्यूगो के 'लि मिज़ेराब्ल' के प्रारंभिक अश सायास पढ़े थे। 'अमृत और विष' के साथ कठिनाई प्रारंभिक अशो मे ही नही है, वे जब-तब, कभी भी, मन चाहे ढंग से प्रकट हो जाते हैं। फील्डिंग ने 'टाम जोन्स' के हर हिस्से के पहले अपने विचार प्रकट करने के लिए एक अध्याय जोड दिया था लेकिन वह अपनी बकवास अपने प्रकृत रूप मे करता था, नागर जी ने इस कार्य के लिए एवजी ढूँढ लिया है—अरविन्द शकर।

धर्मवीर भारती ने उपन्यास के अन्दर उपन्यासकार द्वारा कथा लिखने के प्रयोग को काफी सहानुभूति से देखा है। मुझे इस तरह के प्रयोग पर मूलतः कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति इस बात पर है कि अरविन्द शकर और उसके परिवार के लोग 'अमृत और विष' के पात्र नही बन पाये। हम अरविन्द शंकर से उनके बारे मे बहुत कुछ सुनते हैं किन्तु उन्हे देखते नही हैं। अरविन्द शंकर जो कुछ कहते है, वह चित्रण नही है, डायरी के पन्ने हैं। यह सब सामग्री अलग से पुस्तक-रूप में छापी जा सकती थी लेकिन नागर जी अपने परिवार के लोगों और मित्रो की सलाह के बावजूद इस बात पर अड़े रहे कि वह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखेंगे ही, यह दिखाएँगे कि उपन्यासकार अपने जीवन से सामग्री कैसे बटोरता है और उसे उपन्यास मे कैसे चित्रित करता है। किन्तु पाठक यदि यह जानना चाहे कि अरविन्द शंकर ने मूल चरित्रो के सहारे लच्छू, रमेश, छैलू, आत्माराम, रानी, रद्धूसिंह आदि का चित्रण किया है तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। अरविन्द शंकर अपने जीवन मे आने वाले जिन पात्रो की चर्चा करते हैं, उनसे या तो 'अमृत और विष' के पात्रों का कोई सम्बन्ध नही है और है तो वहअरविन्द शंकर के मन मे ही रहता है, हम उनके जीवन में आये हुए किसी भी पात्रको उपन्यास के पात्र में ढलते

हीं देखते। और यह एक तरह से अच्छा ही है, नहीं तो एक बार पुत्ती गुरु की
र हम अरविन्द शंकर के भंगड़ पड़ोसी के रूप में देखते, दूसरी बार रमेश के
के रूप में।

धर्मवीर भारती ने लिखा है कि पहले उपन्यासकार पाठक को बिलकुल तन्मय
र वास्तविकता की भ्रान्ति में डुबा देता है, फिर झटका देता है कि यह सब
त है। इस झटके को पाठक बर्दाश्त कर लेता है—मेरी राय में क्योंकि अर-
शंकर के जीवन के पात्र कहीं उनके उपन्यास के पात्रों से टकराते नहीं हैं।
क को झटका लगता है दूसरे ढंग का: कथा-रस बार-बार भंग हो जाता है
यह केवल इसलिए नहीं कि अरविन्द की जीवन-कथा का सूत्र उपन्यास के
सूत्र से भिन्न है वरन् मूलतः इसलिए कि अरविन्द शंकर और उनके पात्र दो
रों में रहते हैं उनकी बोली-बानी, सोचने-समझने के तरीके, संवेदना के स्तर
ो अलग-अलग हैं।

अरविन्द शंकर उपन्यासकार हैं; हिन्दी का उपन्यासकार जब आलोचक बन
बोलता है तब उसकी शैली ऐसी ही होती है। आपने शायद नागर जी के दो-
विचारोत्तेजक लेख पढ़े हों, उनसे अरविन्द शंकर के विचार-मंथन को मिला-
देखिए, दोनों में काफी शैली-साम्य मिलेगा। अरविन्द शंकर के कथा-पात्र वैसे
ोलते-बतियाते हैं जैसे 'बूँद और समुद्र' के पात्र और मैं फिर कहता हूँ, नागर
 पात्र अपने सर्जक की तुलना में साधारणतः ज्यादा अच्छा गद्य बोलते हैं।
क को आश्चर्य इस बात पर होता है कि यह 'बेदम' उपन्यासकार अरविन्द
र इतने सजीव पात्र गढ़ कैसे लेता है। और यह रहस्य की बात है। जिन्दगी,
ार और दुनिया से परेशान, थका-हारा, खीझभरा अरविन्द शंकर उपन्यास
ते समय कुछ दूसरे ही स्तर का व्यक्तित्व बन जाता है। स्वगत-कथन में वह
ात्मान्वेषण करता है, अपने परिवार की कहानी कहता है, उससे हमें सहानुभूति
 है—कम से कम हर समझदार पाठक को होनी चाहिए—किन्तु उसके स्वगत
 में हम रस नहीं पाते। अरविन्द शंकर का स्वगत-कथन 'अमृत और विष'
सबसे कमजोर हिस्सा है; अरविन्द शंकर का वस्तुगत कथन ही वास्तविक
त और विष' है। उस उपन्यास में भारत बोलता है, रूढ़ियों में सड़ता हुआ,
यों में लड़ता हुआ, वीर रस के आलम्बनों के बिना, साधारण जनों का, अग-
दों भरा, दलदल के ऊपर सर उठाता हुआ अपराजेय भारत। अरविन्द शंकर
 पुरुष है क्योंकि वह इस भारत को देखते हैं, अपने घोर आत्मरत क्षणों में भी
नहीं भूलते, उसी के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। किन्तु वस्तु, रमेश,
के भारत से अलग, अपने परिवार के अन्दर, और भी सिमट कर अपने मन के
र, अपनी निराशाओं-आकांक्षाओं की सीमा के अन्दर वह सच और बेदम
 है यथार्थ जितना लगते हैं, उतने हैं नहीं। उनका स्वगत-कथन दबी हुई गंध

निकलने का साधन है और इससे वह अधिक स्वस्थ हो जाते हैं।

अरविन्द शंकर अपनी कहानी अच्छी तरह नहीं कह पाते। वे अपने पुरखे का इतिहास पाठकों के लिए रोचक नहीं बना पाते। वे अपने परिवार के, अपने अहं के कथावाचक नहीं हैं, वे कथा-वाचक हैं भारतीय समाज के, सन् १९६१ और ६२ के स्वतन्त्र भारत के। किन्तु मुझे अरविन्द शंकर से सहानुभूति ही नहीं बेहद प्यार है। मैं उन्हें पाठक की दृष्टि से नहीं देखता; वे मेरी बिरादरी के एक साथी लेखक हैं। कितने दर्द से कहते हैं, 'इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर अब तक कभी इच्छामय विश्राम ही नहीं कर पाया।' कितने हिन्दी लेखकों के जीवन की झलक इस एक वाक्य में हमें नहीं दिखाई देती? पूँजीवादी समाज में जिन्दगी भर व्यक्ति की स्वाधीनता का रस लेने के बाद आखिरी मंजिल में—बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, बलभद्र दीक्षित पढ़ीस आदि-आदि की तरह—अरविन्द शंकर की हालत यह है; "तन के ठेले पर लदा हुआ यह जीवन का भारी बोझ खींचते-खींचते मेरे प्राणों का भूखा अशक्त भैंसा अब बेदम होकर जेठ की चिलचिलाती धूप में तपती हुई सड़क पर गिर पड़ा है।" न मछेरा, न बछेड़ा; ठेला खींचता हुआ अशक्त भैंसा,—यह है असली प्रतीक अरविन्द शंकर का।

अरविन्द शंकर अपने मन को 'उत्तेजित, खीझ भरा, थकाहारा' पाते हैं। उन्हें दुःख है कि वे अपने बच्चों को वह सब कुछ न दे सके जो आज के नौजवान चाहते हैं। वे अपनी अनन्त कुंठाओं को मिटाने का एक ही उपाय देखते हैं—आत्म-हत्या! जिन्दगी में परिवार के लिए वे झूठ से एक हद तक समझौता करते हैं, 'झूठ की मंजिल तक अपने अन्तःसत्य को नाथ कर घसीटता हुआ' ले आते हैं किन्तु समझौते की सीमाएँ हैं, वे बिक नहीं सकते। पत्नी समझाती है, 'तुम्हें इतना सच भी न बोलना चाहिए था।' लेकिन क्या करें, आदत से मजबूर हैं, लेखक का आत्म-सम्मान अन्याय और असत्य को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वे ऐसे घर में पैदा हुए हैं जिसमें ईसाइन मास्टरनी के छू जाने पर कुर्सी, मेज तक धोयी जाती थी। वे ईश्वर को नहीं मानते किन्तु पुराने संस्कार मिटे भी नहीं हैं। लड़के भवानी से बनती नहीं है। पत्नी भी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं है। अरविन्द शंकर के पिता आत्महत्या कर चुके हैं, उपन्यास के अन्त में उमेश शंकर ने आत्महत्या कर ली। इन दो मौतों के बीच बड़े जीवट की जिन्दगी है अरविन्द शंकर की! आँख खुलते ही रोज अपनी मत्स्य-रेखा देखते हैं, उसे सिर से लगाते हैं और हाथ चूमते हैं। अपने पौत्र में कृष्ण रूप देखकर उस पर सौ जान से निछावर होते हैं। और कैसी लुभानी हैं उनकी अदाएँ—'कुर्ता डाला और चौराहे पर पान खाने के बहाने चल पड़ा।' उन्हें गर्व है कि वे नवाबी नगर लखनऊ के बाशिन्दा हैं; स्त्रियों को रिझाना जानते हैं, एक अस्थायी प्रेमिका और उसके साथी सज्जन के सामने उनका

अन्दाजेबयाँ यह था कि कहीं अंग्रेजी, कही हिन्दी और कही सलीस लखनवी (इस 'सलीस लखनवी' को पहले मैंने पढा—'तसलीम लखनवी') भाषा के रच्छेदार टुकड़े जुड़ते चलते थे।' यही नही, वे गुजराती भी जानते है, महाकवि र्मद की 'न जाने वद की घडी सुनी' पंक्तियाँ याद आती है। मानो इतना पता-ठिकाना काफी न हो, अरविन्द शकर अपनी शारीरिक सुन्दरता का जिक्र करते हैं, यह सुन्दरता उन्हें 'बड़े से बडे आभिजात्य समाज मे कही मन्दमुखी नहीं होने देती।' वे स्त्री की आँखो मे लालसा की चमक पहचानते है। 'मेरे अन्दर का अनुभवी व्यभिचारी' उस चमक को देख कर उल्लसित होता है। और जब उन्हे अन्याय पर क्रोध आता है तब पहली उत्तेजना मे इच्छा यही होती है कि 'इस अन्याय के प्रति आमरण अनशन साधू।'

अरविन्द शंकर बेहद हिन्दी-प्रेमी हैं। वे उनसे क्षुब्ध हैं जो भाषा के प्रश्न को शतरंज के मोहरे की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे हर जगह शासको, शासनतंत्र-समर्थकों से टकराते हैं। जो सन् ४२ तक अंग्रेज-भक्त और कायर थे, वे 'मुझे कम्युनिस्ट और नास्तिक तक कहने लायक गज़-भर की जबान रखते हैं।'

अरविन्द शकर के परिवार के लोग उनके उपन्यास के पात्रो से भिन्न हैं, किन्तु सामाजिक परिवेश के प्रति उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाएं उन्हे उनसे मिला देती हैं। मिसाल के लिए, देशभक्त लोग अरविन्द शकर को नास्तिक और कम्युनिस्ट कहते हैं, लाला रूपचन्द भी रमेश और उसके साथियो के लिए कहते हैं, 'हमारे यहाँ दो-तीन लड़के बिलकुल कम्युनिस्ट हो गये हैं।...दुनिया जानती हैगी कि खन्ना बाबू नास्तिक हैगे।' जय किशोर से जग्गा गुरु—'ये तुम नही बोल रहे हो, तुम्हारी कमनिस्टी बोल रही है।' पुत्ती गुरु रानी से अपने पुत्र रमेश के बारे में—'ससुर लडका कमनिस्ट, नास्तिक भया सो कोई बात नहीं पर तुम पचास बर्स की बुढ़िया...'। रमेश के दरवाजे पर कुंवर रद्धूसिंह—'कहाँ है वह हरामजादा कमूनिस्ट का बच्चा? बड़ा ब्राह्मण बना है साला।"

अरविन्द शकर क्यों ऐसे पात्र चुनते हैं, क्यो उन्हे ऐसी परिस्थितियो मे पहुँचा देते हैं कि वे इस तरह की गालियाँ खाएँ? इसलिए कि वे स्वयं जीवन मे इस तरह की गालियाँ खा चुके हैं, खा रहे हैं। वे इस नतीजे पर पहुँचे है कि 'जो समाज की जड रूढिवादिता पर कुठाराघात करे या अन्ध श्रद्धा को गलत बतलाए, वह नास्तिक, कम्युनिस्ट।' वे देश, समाज, जनतन्त्र, शासन के बारे मे क्या सोचते है? 'जहन्नुम मे जाए यह कांग्रेसी की सरकार और इसके कर्णधार'—करोड़ों आदमियो की तरह वे सरकार को कोसते हुए कहते हैं, 'इन्होंने चालीस करोड़ आदमियो को कुत्तों का-सा जीवन बिताने पर मजबूर कर रक्खा है।' कांग्रेसाध्यक्ष उनके साथ सन् ४२ मे जेल जा चुके हैं किन्तु 'डाबू सेठ से उनकी रिश्तेदारी और उन पर उनका प्रभाव' है। कांग्रेस कमेटी के दफ्तर मे जा कर उन्हें लगता

धुँ-भरी बस्तियाँ मिली। सांस लेना दूभर हो गया, उजाले के घेरे दोनों ओर बरा-बर दूरी पर जिस समय दिखलाई पड़ने लगे उस समय तो बदबू का अन्त ही न रह गया था।'

बहुत ही सटीक यथार्थवादी चित्रण, साथ ही अद्भुत प्रतीक-व्यंजना। यह सैलाब अजगर की तरह उपन्यास के बीचो-बीच पसरा हुआ है और इस तरह अपनी सक्षम प्रतीक-व्यंजना द्वारा उपन्यास के आदि और अन्त को समेटे है। 'किंग लियर' के तीसरे अंक में तूफान की तरह यह सैलाब यथार्थ भी है और प्रतीकात्मक भी।

यहाँ अरविन्द शंकर से विदा लेनी चाहिए किन्तु विदा लेने से पहले इतना कहना आवश्यक है कि इस साथी लेखक ने अपने को काफी निर्ममता और तट-स्थता से देखा है और मैं उसकी वीरता की सराहना करता हूँ, भले ही उसका स्वगत-कथन न उपन्यास बन पाया हो, न उपन्यास का अंश।

अरविन्द शंकर ज्यों-ज्यों अपने उपन्यास को लेकर आगे बढ़ते हैं, त्यों त्यों उनके स्वगत-कथन की लम्बाई-चौड़ाई कम होती जाती है। साढ़े छह सौ पृष्ठ पार करने के बाद सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में उनका स्वगत-कथन केवल पौने तीन पन्ने घेरता है। जितना ही वह अपने पात्रों में रमते हैं उतना ही अपने को भूलते जाते हैं। बड़े कलाकार की तरह अरविन्द शंकर अपने पात्र बाहर की जिन्दगी से चुनते नहीं हैं, वरन् उसमें कुछ अपनी चरित्रगत विशेषताएँ भी ढाल देते हैं। इस बात को वह जानते हैं। लच्छू के लिए कहते हैं—'लच्छू अनजाने ही में खुद मेरा प्रतीक बन गया है।" और पुत्ती गुरु? पुत्ती भांग छोड़ना चाहते हैं लेकिन छोड़ नहीं पाते। कहते हैं, "भाँग थोड़ी कम करनी चाहिए मुझे। पर साली कम कैसे होय? अष्टसिद्धि, नवनिधि मिल जाती हैं इसमें'। भाँग छोड़ने की यह समस्या अरविन्द शंकर के लिए रही हो चाहे नहीं, अरविन्द शंकर के सर्जक पंडित अमृतलाल नागर के लिए अवश्य रही है।

नागर जी अपनी विशेषताएँ पात्रों को देते हैं किन्तु सीमित मात्रा में, विजया के प्रसाद की तरह। 'बूंद और समुद्र' में सज्जन, महिपाल, वनकन्या उनका काफी प्रतिनिधित्व करते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने अपना प्रतिनिधि अलग से एक उपन्यासकार ही खड़ा कर दिया है। वह उपन्यासकार है, इसलिए नागर जी के प्रवक्ता के रूप में सज्जन एंड कम्पनी से अधिक समर्थ और सजीव है। सज्जन-महिपाल के जोड़ीदार यहाँ रमेश और लच्छू हैं किन्तु इनके चित्रण में और सज्जन-महिपाल के चित्रण में जमीन आसमान का फर्क है। नागर जी बहुत निःसंग और तटस्थ होकर अपने पात्रों को देखते हैं। रमेश बाढ़ में जनता की सेवा करता है और 'मन ही मन वह अपनी सीढ़री के नशे में मसमूर' भी होता है। अरविन्द शंकर की तरह रमेश भी आधा नास्तिक है। वह मंदिर

बनाने की योजना का विरोध करता है। उसके शिक्षक ईश्वर का नाम लेकर परीक्षा में सफल होने का आशीर्वाद देते हैं लेकिन ,रमेश को लगता है,'ईश्वर का तो उसने अपमान किया है। ऐन शिवरात्रि के दिन।' यह सोचते हुए 'रमेश का सारा मानसिक द्रोह सहम कर दब गया।' उपन्यास के प्रमुख युवा-पात्र अपने भीतर इस तरह के मानसिक संघर्ष लिये सामने आते हैं। वे आदर्श, कल्पित पात्र नहीं हैं, मन से गढ़ी हुई कठपुतलियाँ नहीं हैं, साइकिल लेकर ट्यूशन करते, बाप से लड़ते, गलियों में चुरा कर बीड़ी पीते, प्रेम के सपने देखते रमेश-लच्छू जैसे लड़के लखनऊ में, ही नहीं, उत्तर भारत के हर शहर में देखने को मिल जाएँगे। रमेश अखबार का संवाददाता बनता है। यह उसके संघर्ष की परिणति नहीं है, एक मंजिल है जहाँ तक वह पहुँचा है। और अखबार का संवाददाता बनने में बुरा क्या है? और 'ब्लिट्ज़' के संवाददाता जैसा काम करे तो रमेश को मैं काफ़ी कामयाब संवाददाता मानूँगा। इसमें कुछ बुराई हो भी तो इसके लिए उपन्यास-लेखक की नुक्ताचीनी क्यों की जाए, उससे यह माँग क्यों की जाए कि तुम आदर्श क्रान्तिकारी पात्र हमारे सामने प्रस्तुत करो, इस उपन्यास की सफलता ही इस बात में है कि इसमें आदर्श क्रान्तिकारी पात्र नहीं हैं। वे उस सड़ाँध से अभिभूत होते हैं जिसे वे समाज से दूर करना चाहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हैमलेट, ओथेलो और लियर एक हद तक क्लौडियस, इयागो, गोनेरिल-रीगन का कलुष अपने भीतर सँजोये हुए हैं। रमेश के आदर्शवाद की परिणति विधवा-विवाह में नहीं होती। उसके सद्य. विवाहित जीवन में एक लड़की और आती है। नाम है बानो। रमेश अपनी पत्नी के साथ सोता है किन्तु उसके मन पर छायी है बानो। वह कल्पना में पत्नी को बानो मानकर उससे प्यार करता है। 'उस रात कमरे के अँधेरे में रमेश ने रानी को अपनी कल्पना में बानो मानकर बेहोश जोश में उसे अपना प्यार दिया और प्रकाश होने पर रानी की आँखों में अपने प्रति निर्मल रीझ और अन्तरंग सुखभरी अलसायी मादकता देखकर रमेश का मन लज्जा और ग्लानि से मथ उठा।" रमेश का यह द्वन्द्व नागर जी की अनासक्त कथाकार-दृष्टि का प्रमाण है।

और लच्छू? चित्रण की दृष्टि से वह सबसे रोचक है, यानी युवकों में। 'सारस लेक' में काम करने वह जाता है, रमेश जब अपनी बहन का विवाह करता है, तब उस नाटक का सूत्रधार लच्छू ही होता है। लच्छू बाबू सतनरायन का बेटा है जो जनम भर कर्ज का भार ढोते रहे और कारिन्दों का अपमान सहते रहे। लच्छू के बारे में बाप की राय है, 'तो ये ससरा कौन कम बेईमान और निकड़मी होगा...सौंडिया समरी सब मेरे सन्न सुभाव पर गयीं 'और सौंड़े तीनों [illegible] ने अपनी महतारी पे गये हैगे।' लड़के की बेईमानी से बाप खुश है [illegible] ने उन्हें मिठाई खिलायी है, 'नहीं तो साले एक-एक पैसे की बीड़ी

तरसाते हैंगे हमें।"

लच्छू रूस जाता है लेकिन वहाँ से लौटने के बाद मानो वह दलदल में और
गहरे धँस जाता है। दलदल में धँसने से उसके चरित्र की संभावनाएँ खतम
हो गयी, वरन् और निखरी हैं बशर्ते कि हम उपन्यासकार से यह माँग न
कि वह लच्छू को आदर्श क्रान्तिकारी बना कर दिखाए। रूस जाने से पहले
छू क्या है? 'सारस लेक' का कर्मचारी जो अपने आदर्श छोड़ कर कई तरह
समझौते करता है। वह अपनी उन्नति के लिए कामातुर प्रौढ़ाओं के भोग का
धन बनता है। वह जानता है कि 'सारस लेक के शैतानी त्रिकोण से उसका
बन्ध न टूटा तो एक दिन उसका व्यक्तित्व भी दोहरा हो जायगा—फिर तिहरा
हरा—अनन्त बिखराव भरा हो जाएगा।" यही होना है। यही उसके चरित्र
सगति है; रूस से लौटने पर उसका जो पतन होता है, उसके बीज बोये जाते
सारस लेक' में और 'सारस लेक' में वह जो कुछ करता है उसके प्रेरणास्रोत
उसके जीवन में विद्यमान हैं। 'सारस लेक' का बुलावा है रमेश के लिए,
न्तु वह जा नहीं सकता क्योंकि रानी चाहती नहीं कि वह जाए। जब आगे चल
रानी-रमेश का विवाह हो जाता है, तब वह उन्हें बधाई देता है किन्तु आरम्भ
उसे इस तरह के आदर्श-प्रेम पर कोई श्रद्धा नहीं है। 'कैरियर पहले, मुहब्बत
द को—लच्छू का जीवन-दर्शन 'कैरियर' को केन्द्रबिन्दु बनाता है। वह रमेश
समझाता है, 'अबे क्यों एक प्लैटानिक मुहब्बत के पीछे अपना कैरियर बिगाड़
है उल्लू कहीं का।" और जब रमेश जाने से इनकार करता है, तब लच्छू
-सेवा नहीं, नितम से अपना 'कैरियर' बनाने की बात सोचता है, 'और मुझे
र यह चान्स मिल जाय तो अपनी तकदीर को सराहूँगा मैं झूठ नहीं। शफटर
रामाराम को तो छै महीने में ही अपने शीशे में उतार लूँगा, तुम देख लेना।'
च्छू का 'कैरियर'-मोह उसके पतन का एक प्रमुख कारण है। मिसेज माथुर जब
से अपना शिकार बनाती है, तब वह स्वयं भी अपना मतलब सिद्ध करने की
न में रहता है। उसे मिसेज माथुर 'वचानू सटर की बाट' जैसी ही नहीं
गती, 'इससे भी बड़ी बात यह थी कि इस 'पॉश सोसायटी' का एक महत्त्वपूर्ण
ग बनने की महत्त्वाकांक्षा खुद उसके मन में ऐसे बीज के समान दबी हुई थी
ो उचित खाद और पानी न पाने के कारण अब तक पनप नहीं सकी थी।"
समें स्पष्ट है कि लच्छू का पतन आकस्मिक न होकर उसके चरित्र का सहज
वकास' मात्र है।

किन्तु लच्छू का जन्म एक गरीब घर में हुआ है। उसे गरीबों से हमदर्दी भी
। यही उसके मध्यवर्गी चरित्र की विडम्बना है।

'मेंहदीमिल के साथ मिस्टर को देख कर कम्युनिस्ट या कम्युनिज्म का प्रबल
मर्थक न होते हुए भी उसके मन में अपनेपन की ज्वाला जाग उठी थी। लच्छू

भी गरीबी के महान् स्वप्न महाजन और उनके कारिन्दों के मारे हुए शोषित समाज ही का एक अंग है।' रूस में लच्छू प्रगतिशीलों को दीक्षित देता है उसका देश क्यों उन्नत नहीं कर पाता। पं० जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान को नया बनाने के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं, स्वतन्त्रता आये हुए कुछ वर्ष इतने मात्र ही तो हुए हैं, इत्यादि। किन्तु उसके मन में द्वन्द्व था; वह जानता था देश के लिए उसे जो कुछ करना चाहिए था उसने नहीं किया। 'इसके बाद से लच्छू का मन आम तौर पर छोटे स्तर पर ही रहा। उसके मन का निचला स्तर अपने देश और समाज के निराशेपन से घुट और मर रहा था।" लेकिन यह घुटन-भाव वह मन पर हावी होने नहीं देता, उसे मन के निचले स्तर पर ही रखता है। उपन्यासकार अरविन्द शंकर पाठक को सावधान करना नहीं भूलते, 'लच्छू मले ही समाजवादी रूस के दर्शन करने पहुँच गया हो पर सच्चा समाजवादी रमेश ही है।'

रूस से लच्छू यह सीख कर आता है कि श्रम से बड़ी कोई शक्ति नहीं। 'लेकिन कहाँ श्रम करूँगा, क्या उद्देश्य होगा—यह प्रश्न लच्छू को उस मधुर स्मृति के अन्त में यथार्थ के धरातल पर उतार लाया। कुछ न कुछ तो करूँगा ही। सबसे पहले जीविका पाना ही सबसे बड़ा श्रम और सदुद्देश्य है।' जीविका भर के लिए पैसे कमाना लच्छू के लिए कठिन नहीं है किन्तु उसे बड़ी आमदनी चाहिए। क्यों ? इसलिए कि 'उन सुख-सुविधाओं को जो सारस लेक में भोग चुका है वह निश्चय ही पाकर दम लेगा।' लच्छू सारस लेक में जो पूँजीवादी आदतें सीख चुका है, वे रूस-यात्रा से धुल नहीं जातीं। उसका व्यक्तित्व जिस काजल की कोठरी में गढ़ा गया है, उसका असर इस तरह की यात्राओं से खतम नहीं हो सकता। जितना ही तिकड़म से पैसा कमाने के फेर में वह अपने सिद्धान्तों की बलि देकर अवसरवादी बनता है, उतना ही उसका पतन होता जाता है। किसी समय बैंजूलाला के कहने पर उसने सेठ रेवती रमन को 'भोगाङ्गना सप्लाई करने से साफ इनकार कर दिया था।' अब वह उन्हीं रेवती रमन को खुश करने के लिए 'गोपी से सौदा पटा रहा था।'

लच्छू जैसे कितने प्रतिभाशाली युवकों के उचित विकास की संभावनाएँ इस तरह नष्ट नहीं हो जातीं ? इसके लिए दोषी पूँजीवादी समाज है न कि उपन्यासकार। उसका लक्ष्य यह दिखाना है कि विकास की सम्भावनाएँ नष्ट कैसे होती हैं। चुनाव के दौरान लच्छू साढ़े सोलह हजार रुपये कमा लेता है। 'चुनाव के अन्तिम आठ दिनों में उसने एक हजार से तीन हजार रुपये तक रोज कमाये।' वह अपना जीवन-दर्शन इस तरह विकसित करता है—'धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, पूँजीवाद, समाजवाद—ये सब कुछ अवसरवाद के आधार पर ही टिके हैं।' पैसा कमाने का एक साधन है—स्त्री। लच्छू अपने को बेचता है, दूसरों को बेचता है।

क्टरी रमन उसे समझाते है—'औरत से सिर्फ बच्चे ही पैदा नही किये जाते, रुपये भी पैदा किये जाते हैं।' लच्छू के लिए यह बात नयी नही है। 'लच्छू भी इसी दर्शन में विश्वास करता है।"

फिर लच्छू गिरते-गिरते हर तरह के अपराधो के लिए तैयार हो जाता है। पूँजीवादी राजनीति में दुश्मन की हत्या कराना, उसके गोदामो आदि मे आग लगवाना आम बात है। लच्छू इस तरह के अपराधों मे फँस जाता है। लोग रमेश जी भी जान के गाहक हैं; किसी तरह वह बच जाता है। यह सब घटनाक्रम सनसनीखेज लगता है किन्तु सामाजिक उपन्यासो मे हत्या और षड्यंत्र को जगह ही न दी जाए, न तो ऐसा कोई नियम है और न होना चाहिए। लच्छू डा० आत्माराम के प्रेस मे आग लगाने पहुँचता है। दो पूँजिपतियो के संघर्ष में वह पैसा पाने के लिए अपराधी बनता है। 'दस हजार रुपयों पर यह सौदा तय हुआ था कि लच्छू रोटरी प्रेस और दूसरी मशीनों को इतना नष्ट करवा देगा कि कम से कम आठ-दस दिनों तक अखबार छपना ही असम्भव हो जाए।' क्यो उसका ऐसा पतन हुआ? वह डा० आत्माराम से कहता है—'अरसा लेन में मुफ्त जीवन बिताने के बाद—मैं उस नरकभरी जिन्दगी मे तिल-तिल करके सड़ने के लिए लौट जाने को हरगिज तैयार न था, जहाँ से मैं आया था।' लच्छू उन मध्यवर्गीय युवकों का प्रतिनिधि—कुछ समय के लिए बन जाता है जो गरीबी की मार सहते-सहते धीरे-धीरे फासिस्टवाद की हिमायत करने लगते हैं। इन्हें इस पतन से बचाने का एक ही मार्ग है—सही राजनीतिक आन्दोलन। देश में राजनीतिक संकट उत्पन्न होने पर यदि क्रान्तिकारी आन्दोलन का अभाव हो तो ऐसी हालत में जनता स्थिर नही रहती, वह तेजी से फासिस्टवाद के समर्थन की ओर झुकती है। इस समय भारत ऐसे ही संकट से गुजर रहा है। लच्छू विदेश-यात्रा करके फासिस्टवाद के बारे में बहुत कुछ सीख आया है। उस जैसे युवकों का पतन क्यों होता है, इसे वह बखूबी समझता है। डा० आत्माराम से कहता है, 'अगर इस देश में कोई सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन या समाज-निर्माण का जोशीला काम चल रहा होता तो यकीनन, मैं रूस से लौटने के बाद आज कुछ और ही होता।' फिर उसने आत्माराम के प्रेस में आग क्यों नहीं लगाई? इसलिए कि वह दरिद्र घर में पैदा हुआ था, वह आत्माराम से प्रभावित था और उस जमाने मार्क्सवादियों के कथावाचकों की बातें सुन आया था। उसे मिस्र के ... के ... का ध्यान आता है जिसने ऊँची पहाड़ी ... दिखलाते हुए ... था, जैसे नाजियों ने उसे बर्बाद किया था। 'और यह ध्यान आते ही ... से मन में यह लगा कि ... नाजियों की तरह ही ... पर आक्रमण कर रहा है और मैं सिर्फ पैसे के बदला लेने के लिए इस दस हजार रुपये के ... हजार लूट जाने को ... है, अपनी ... का ... रखने को

तालाब में —'।

इससे आगे लच्छू से बोला नहीं जाता है। उसे अपने चरित्र के विकास की सम्भावनाओं का पता है, यह अच्छी तरह जानता है, वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। उपन्यासकार के शब्दों में—'उसके मन के बाँध जो शब्दों के फाटक लगाकर अपने भावावेश पर अब तक कंट्रोल कर रहे थे एकाएक टूट गये। एक लम्बे वाक्य प्रवाह का अन्त काफी देर तक फूट-फूट कर रोने के बाद हिचकियों और सुबकियों के दलदल में हुआ।"

उपन्यासकार के लिए लच्छू के चरित्र का महत्त्व क्या है? आत्माराम लच्छू को देखते हैं। नौकर चाय लेकर आता है, उसे लौटा देते हैं। "उनके सामने कुण्ठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफ़रत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर, दुत्कारे जाने पर अपने कुण्ठित आत्म-सम्मान के लिए, जीवन सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षुद्र और अन्ध स्वार्थी हो जाता है! ये अभी अपराधी नहीं, विकृत विद्रोही भर हैं।" यह विश्लेषण कुल मिला कर सही है। कुण्ठित नौजवान भारत का प्रतिनिधि है लच्छू, वह क्रान्तिकारी भी बन सकता है फ़ासिस्ट भी। आज के भारत को देखते हुए लच्छू से अधिक 'टिपिकल' पात्र हिन्दी उपन्यासों में दूसरा मुश्किल से मिलेगा। उसकी वेदना छैलू की पीड़ा से अधिक मर्मवेधी है। वह अपने चरित्र की सम्भावनाएँ जानता है, फ़ासिस्टवाद और समाजवाद का अन्तर समझता है। इसलिए अधिक व्यथित है। उसकी पीड़ा व्यक्तिगत तो है ही किन्तु वह काफी बड़े युवासमुदाय की पीड़ा भी है। वह अस्वस्थ मनोविकारों अथवा क्षणिक आवेश से उत्पन्न नहीं हुई। इसलिए उसमें अधिक गहराई है।

लच्छू का स्थान न रमेश ले सकता है न रमेश का बाप। किसी में उतना गहरा वह द्वन्द्व नहीं है जो आज के उत्तर-भारतीय युवा समुदाय की विशेषता है। पुत्ती गुरु बहुत रोचक व्यक्ति हैं। वह ताई के जोड़ के हैं किन्तु ताई को 'बूँद और समुद्र' में अधिक स्थान मिलना चाहिए था, पुत्ती गुरु को जितनी जगह 'अमृत और विष' में मिली है, वह ठीक है। यह उपन्यास नयी पीढ़ी को लेकर लिखा गया है। इसके मुख्य पात्र रमेश, लच्छू, रानी हर्रो, छैलू आदि हैं; शोभाराम, आत्माराम [illegible] में रहना ही उचित है; पुत्ती गुरु, रद्धूसिंह आदि नयी पीढ़ी [illegible] लेते हैं, इसलिए इनका मंच के अग्रभाग में कुछ समय के लिए आना है। यदि इस उपन्यास में दो पीढ़ियों का बाह्य संघर्ष मात्र होता तो हम पुत्ती गुरु और उनके पुत्र को बराबर जगह मिलनी चाहिए थी। किन्तु [illegible] में बाह्य संघर्ष जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही आन्तरिक संघर्ष है। यह मूलतः नयी पीढ़ी के मन में है, पुत्ती गुरु जैसों के मन में नहीं। इसलिए [illegible] उपन्यास का कथासूत्र मिल जाए, उसका आदि-अन्त दिखने लगे तो लेखक

शय-उद्देश्य भी समझ में आने लगे, तब यह मालूम हो जाए कि किस पात्र
ननी जगह मिलनी चाहिए थी और हम पात्रों से यह शिकायत न करें कि
र्रां क्रान्तिकारी क्यों नहीं हैं ?

ने यह उपन्यास दस दिन में पढ़ा था और इन दस दिनों में चार दिन यात्रा
शामिल थे। यात्रा करते समय मुझे काफी कठिनाई का सामना करना
रेल के डिब्बे में पुस्तक पढ़ते समय कभी-कभी इतने ज़ोर की हँसी आती
सँभालना मुश्किल हो जाता था और साथ के यात्री कुछ क्रोध, कुछ लोभ
गाह से देखने लगते थे। पुस्तक में मन इतना रमा हुआ था कि उसे पढ़े
रहा भी न जाता था। अरविन्द शंकर की दीवार एक बार लाँघने पर कोई
र्यशाली ही होगा जो उपन्यास को धीरे-धीरे पढ़ेगा, यह मेरे लिए आश्चर्य
त है।

ौर सब छोड़ दीजिए, केवल सुनिए, लोग कैसे बोल रहे हैं, ऐसा मज़ा
के बोलने की इस नकल में है कि असल में भी कम ही मिलेगा। नागर जी
र सब रस सोद्देश्य हैं; केवल बतरस विशुद्ध, निरुद्देश्य, ब्रह्मानन्द सहोदर
ह आदमी की पोशाक नहीं देखते हैं, उसकी मुखमुद्रा भी कम ही देखते है,
बातें सबकी बड़े ध्यान से सुनते हैं। पुत्ती गुरु कैसी धोती पहने थे, नाक
और नुकीली थी या चपटी, यह सब आपके ध्यान में शायद न आए लेकिन
मृत और विष' आपने पढ़ लिया है तो पुत्ती गुरु का एक वाक्य सुनते ही
ह देंगे, वह किसका वाक्य है। मानो नागर जी गोकुलपुरे वाले घर की
ी पर बैठे हुए लोगों की बातें भीतर से सुनते हों, उनकी शक्लें उनकी
से ओझल हों। हरफन मौला नागर जी बोली-बानी की नक़ल के फन में
नी हैं।

पुत्ती गुरु अपनी पत्नी को डाँट रहे हैं—"कल को मैं रमेस की बरात लेके
ा और भाँग-ठण्डाई का इन्तज़ाम चौकस न होय तो मुझे कैसा क्रोध चढ़ेगा
हीं सोचते हैं ई लड़के औ न तुम कुछ सोचती हो।"

फिर ताव खाकर बेटे के बारे में अपनी पत्नी से—"क्या किया तुमरे रमेस
ले। ससुर जब देखौ तब अपने लड़कन का पच्छ। सारे खोट मेरे मन में ही
रौंड को इस बात का भी होस नहीं कि मैं न होता तो ये लौंडे समरे कहाँ से
?"

रप्पन लाला के सत्यानाश की कामना करते हुए पुत्ती गुरु—"हे भोलानाथ,
रात में भैरव और वीरभद्र को भेज कर इस समरे के घर में ऐसा चमत्कार
ओ कि समरा सवेरे ही मेरे घर पर आय के कहे कि गुरु का चरण छूता हूँ,
लड़कों को समझाओ अनशन तोड़ें, मन्दिर अब नहीं बनेगा।" राजा रामचन्द्र
राव रर्दुसिंह की कन्या से उनका लड़का ब्याह कर रहा है; अब राजाराम

मेश का बहनोई ब्याह से पहले अपनी इंग्लिस्तानी झाड़ते हुए साले से—
हे हैं न आप ! अनलेस एण्ड अनटिल आप इन लोगो के लिए कोई सुटेबुल
ंट नहीं करते तब तक मैं शादी के किसी भी काम में शरीक नहीं होऊँगा,
र देता हूँ ।"

रखती आँखों वाले कथावाचक महाराज भक्त-भक्तिनियों के बीच मे :
मेरे इस रुदन प्रलाप का उत्तर भगवान ने कैसे दिया, जानते हैं ? आ-हा-
टखट नन्दकिशोर ने अपनी जादू भरी खिलखिलाहट से मेरे अन्तर के गगन
में अनहद नाद गुंजरित कर गायन आरम्भ कर दिया—(उँगलियाँ फिर
ोनियम की बारहखड़ी छूने लगीं और भक्तराज गाने लगे :

"कैद में है बुलबुल सैयाद मुस्कराए,
कहा भी न जाए चुप रहा भी न जाए ।"

और व्यभिचारी पुत्रियों के पिता चोइथराम लच्छू से, "बरा मोटर वाला
बरा आदमी बन गया हैंगा । हमारा बरा भाई के पास भी मोटर था करांची
अब बीरी बी नईं, चाय का वास्ते भी आना-पावली नहीं, साली किस्मत का
है । क्या करेंगा । एक लड़की रंडीपने मे कतल हो गई—दूसरी रंडी का भी
हाल होवेंगा ।" एक समूचे जीवन का इतिहास, न जाने कितने गरीब शरणा-
ों की दारुण गाथा इन थोड़े से शब्दों मे कह दी गयी है ।

जब नागर जी अपने पात्रों मे रम जाते हैं, तब स्वय उनका गद्य लोक-शैली
ल जाता है । रानी, "चढ़ते सुहाग के गुमान मे नैक-नैक फूलती भी जा रही
" मिसेज माथुर ने लच्छू को ऐसी मादक दृष्टि से देखा कि, "वह सनाका खा
।" अष्टग्रह सम्बन्धी भविष्यवाणी असफल होने पर धर्मभीरु बाबू ज्योतिषियों
र ब्राह्मणों के प्रति, "कटुक वचन बोलने लगे ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि इस उपन्यास मे बडे-बडे मजे हैं । चरित्र-चित्रण
जँचे, कथानक का आदि अन्त न समझ मे आए तो लोगो की बातचीत तो
ाई देगी । सुनते रहिए और यह समझिए, एक मेले मे से गुजर रहे हैं । इन्सान
बोली मे कितना रस है, यह इस उपन्यास को पढ़ कर आप समझ सकेंगे ।

किन्तु 'अमृत और विष' सवादो का निपटारा नही है, यह एक उपन्यास है
सका गठन एक सघर्ष को लेकर हुआ है । यह सघर्ष समाज के रूढ़िवादियो,
ातन पथियो, भारतीय सस्कृति का दभ करने वाले ढोंगियो, पूँजीपतियो, उनके
लालो तथा नयी पीढ़ी के रास्ता खोजते हुए, अपने अधिकारो के लिए, जनता
ी सेवा करने वाले अपने ही भीतर पुराने सस्कारो से जूझते हुए नयी पीढ़ी के
ुवको के बीच है । यह सघर्ष अनेक समस्याओं को लेकर होता है, अनेक स्तरो
र होता है और आदि से अन्त तक चलता है । अपनी बहन के ब्याह के सिलसिले
मे रमेश की दौड़-धूप से इस सघर्ष का आरम्भ होता है और रमेश की हत्या के

है, फिर 'बलात्कार की मुद्रा में' उस पर आक्रमण करते हैं, "विलासी अतृप्त प्रेतात्माओं का ताडव।" भांग अफीम, शराब, हर तरह के नशे का चलन है। नर-नारी-कामाचार के अतिरिक्त अप्राकृतिक व्यभिचार भी छिप-छिप कर होता है। इसके साथ अष्टग्रह, ज्योतिष, सैकडो रूढ़ियाँ और धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास हैं। समाज का यह पुराना ढाँचा टूट रहा है, उसकी पुरानी सस्कृति नष्ट हो रही है, नवयुवको की पीढ़ी उससे जूझ रही है, उस कालिमा से स्वय प्रभावित होती है और अपने भीतरी संघर्ष मे भी उलझती है।

छैल बिहारी अपने बाप का इकलौता बेटा है। उसके घर में एक नरवेश्या का राज्य है। पिता रसिक बिहारी ने अपनी वासना के खिलौने बुलाकी को घर में रख छोड़ा है। बुलाकी २७-२८ वर्ष का है। नाराज़ होने पर बुलाकी छैलू की माँ को पीट भी देता है। छैलू की सहनशीलता का बाँध एक दिन टूट जाता है। उसने "बुलाकी को ज़ोर से धक्का दे कर गिरा दिया और उसकी गर्दन पकड़ कर दो-तीन बार ज़मीन पर दे मारी।' बाप-बेटे मे लड़ाई हुई। बाप ने मारने को हाथ उठाया तो बेटे ने बेंत उठा लिया। छैलू ने बुलाकी के सन्दूक तोड़े, उसके रेशमी और ऊनी सूट फाड़ डाले, उसकी तसवीरें फाड डाली, सिंगार-पिटार का सामान तोड़ा। छैलू अकेला नही है। इस घरेलू सघर्ष मे तरुण छात्र सघ के सदस्य उसके साथ हैं। गोटेवाले बुलाकी को दबोच लेता है, इज़ारबन्दों से कम्मी और हर्रो उसके हाथ-पैर बाँध देते हैं, उसकी हजामत बनाते हैं, जमाल गोटे की टिकिया खिला कर पानी पिलाते हैं फिर लात मार कर उसे गली के बाहर निकाल आते हैं। बारादरी वाले सघर्ष मे क्रुद्ध छैलू मदिरो मे आग लगा देता है। वह अभी सगठन का महत्त्व नही समझता। सोचता है, 'इन सब अन्यायो का बदला अकेला मैं ही ले लूँगा।' उसके कार्य बचकाना और अराजकतावादी है। युवको का रास्ता साफ-सुथरा, बना-बनाया, आसान नहीं है। रास्ता बनाने म वे गल-तियाँ करते हैं, सीखते हैं, सँभलते हैं, फिर आगे बढ़ते है। इनमे विभिन्न जातियों और वर्णों के लोग हैं, सामन्ती अलगाव से ऊपर उठ कर वे एक नयी भारतीय एकता की ओर बढ़ रहे है। उनमें कमज़ोरियाँ हैं, सभी सूरमा नही हैं। बाढ़ के पानी मे नाव पर हर्रो को बेहद डर सताता है। हर्रो को अपने "मित्रो से भी शिकायत है—किसी ने उसे एक भी प्रेमिका नहीं दिलवायी।" वह सच्चा अस्ति-त्ववादी है। "हर्रो के सामने स्वतन्त्र अस्तित्व ही का तो प्रश्न है। बचपन मे कुछ कामाचारी अध्यापको और पड़ोसी वयस्को के द्वारा ज़बर्दस्ती उनका भोगपात्र बनने की अपनी विवशता से उसने विद्रोह किया था। वह पुरुष के रूप में अपना अस्तित्व उजागर रखना चाहता था। और इसी पौरुष को पाने के लिए वह नारी का भूखा था—फिर भूखा, विकट भूखा।" और अन्त मे चार बच्चो की माँ एक प्रेमिका उसे मिल ही जाती है।

मंज़िल का चरमबिन्दु है। केवल एक मंज़िल खत्म हुई है; सफ़र की मंज़िलें अभी और भी हैं। आज के भारत की यही स्थिति है।

इस उपन्यास की एक विशेषता स्त्रियों का संघर्ष है। पूँजीवादी समा सबसे ज़्यादा शोषण की चक्की उन्हीं को सहनी पड़ती है। जिन्हीं लड़कि साथ सहते हैं जिस घर में रहती है वह साक्षात् नरक है। लेकिन पुरी गुरु की पति के विरुद्ध युद्ध का पक्ष लेती है। कुँवर रघुसिंह के विरुद्ध सुमित्रो अपनी लकड़ी हाथ में ले कर खड़ी हो जाती है। रमेश रानी को मंत्र देता 'और तुम लड़कियों का मोर्चा संगठित क्यों नहीं करती हो, घर-घर में सभाएँ जाय के।' अभी लड़कियाँ संगठित नहीं हुईं; उनका कोई मंच नहीं शायद नागर जी के दूसरे उपन्यास तक यह भी हो जाए।

उपन्यास का आदि रमेश की बहन के ब्याह से, अन्त उसकी हत्या के प से। कथा का नायक कोई नहीं है कथा नायक-नायिका की नहीं है, न क क्रान्तिकारियों की है। यह पूँजीवादी समाज में पनपे हुए नये जीवन की तड़प भारत के युवकों के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष की गाथा है। कथा का प्र बन्द नहीं है, परिस्थितियाँ बदलती हैं और उनके साथ युवकों के चरित्र में उत्थ पतन होते हैं। किशोर मन के पाठकों को इस कथा में रस न मिले तो आश्च नहीं है। उनका मन बछड़े की तरह है जो कथासूत्र द्वारा एक खूँटे से बँध कर र चाहता है; जब कथासूत्र उलझता है, तब वह खूँटा तुड़ा कर भागता है। इस न्यास में यदि कोई कमज़ोरी है तो यह कि डा० आत्माराम और उन जैसे अन्य लोग युवकों की मुश्किलें हल करने के लिए बहुत जल्दी सुलभ हो जाते प्रेमचन्द ने आश्रम बनाना सन् बीस के बाद बन्द कर दिया था। 'गोदान' का धनिया के पछाड़ खा कर गिरने से होता है आश्रम बनाने से नहीं। आत्मा आदि जिस तरह रमेश और उसके मित्रों की सहायता करते हैं, वह सन् बीस प्रेमचन्द की झलक है, 'गोदान' के बाद आगे बढ़ा हुआ क़दम नहीं। वैसे यदि ड आत्माराम किसी अमरीकी न्यूज़ पेपर मैगनेट की याद दिलाते हैं, तो इसे ना जी की सफलता ही माना जाएगा।

इस उपन्यास में बहुत से पात्र हैं किन्तु वे थोड़ी देर को मिलें तो भी अप सजीवता की छाप छोड़ जाते हैं। इस कथा में पात्र ही नहीं हैं, उनका जन-सम परिवेश भी है। इसी कारण दो पीढ़ियों का संघर्ष अपने समस्त वातावरण साथ सजीव रूप में पाठक के मन पर छा जाता है। इन पात्रों की नियति आ के भारत की नियति है, इनकी गति स्वाधीन भारत के तरुण समाज की गति है पूँजीवाद के सूत्रों से व्यष्टि और समष्टि दोनों बँधे हुए हैं। समाज-मंथन में अभ ... रहा है किन्तु अमृत का नितान्त अभाव नहीं है। जो भ

आज के भारत को, भारत के तरुण समुदाय को, आज की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं को सहानुभूति से समझने-परखने का प्रयत्न करेगा, उसे अमृतलाल नागर के इस उपन्यास से वैचारिक उत्तेजना अवश्य मिलेगी। मेरा विश्वास है कि उसे भावनात्मक उत्तेजना भी मिलेगी।

११ | यशपाल जी का झू

'झूठा-सच' यशपाल जी के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी
के नये-पुराने श्रेष्ठ उपन्यासों में होगी—यह भी निश्चित है। पहले
और दूसरे भाग में ७०६ पृष्ठ हैं। इतने पृष्ठ लिखना ही बहुत बड़
काम है, उन्हें कलात्मक ढंग से लिखना जीवन की बड़ी सफलता मान

उपन्यास की कथावस्तु का क्षेत्र काफी व्यापक है। भौगोलिक दृ
प्रसार लाहौर से दिल्ली और लखनऊ तक है। काल-क्रम के विचार
आरम्भ स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले से होता है और उसका अन्त स्वाधी
के उपरान्त की झांकी से होता है। पात्रों के विचार से इसमें विभि
वर्गों, राजनीतिक पार्टियों और अवस्था के नर-नारियों का चित्रण है
यह उपन्यास हमारे सामाजिक जीवन का एक विशद चित्र उपस्थित

इस उपन्यास का राजनीतिक महत्व यह है कि वह जनता को दे
क्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे
सावधान रहना सिखलाता है। ये शक्तियाँ अभी समाप्त नहीं हुई वरन्
संस्कृति के नाम पर अब भी जनता के कुछ हिस्सों को गुमराह क
हत्या, दंगे, नरमेध संगठित करने में सफल हो जाती हैं। जो बातें पह
प्रचार से आरम्भ होती हैं, उनकी परिणति स्त्रियों को बेइज्जती, बच्चों
बूढ़ों-नौजवानों की अकाल मृत्यु में होती है। इस बर्बरता को जड़ से
आज भी हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य बना हुआ है।

उपन्यास में कांग्रेस के अवसरवादी नेतृत्व पर काफी ध्यान केन्द्रित
है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले इस नेतृत्व ने क्रांति से भय खाकर स
रास्ता अपनाया। इस समझौते की परिणति देश के बँटवारे और लाखों
पुरुषों के स्थान बदलने तथा हत्याकांडों के संगठन में हुई। स्वाधीनता-
बाद इस अवसरवादी नेतृत्व ने जनता को आशाएँ पूरी नहीं की वरन् क

जाती है, इसकी झाँकी भी उपन्यास में दिखाई गई है।

इस उपन्यास का सामाजिक महत्त्व यह है कि वह वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता, उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह उसके क्रय-विक्रय की जघन्यता को स्पष्ट करता है। इन प्राचीन सामन्ती बंधनों से मुक्ति पाना कितना कठिन है, नारी किस वीरता से इनके प्रति विद्रोह करती है, स्वयं उसके संस्कार किस तरह उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं—इस सब का मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है।

उपन्यास के मुख्य पात्र जयदेव पुरी का चित्रण यशपाल जी ने पूर्ण तल्लीनता से किया है। जितना वह उसके अन्तरंग जीवन से परिचित हैं, उतना और किसी पात्र के जीवन से नहीं। यदि पुरी आत्मकथा लिखने बैठता तो भी शायद इतनी बारीकी, गहराई और सच्चाई से एक क्षुद्र, महत्वाकांक्षी और अनैतिक युवक की कहानी न कह पाता। उसके लिए नैतिकता के दो मानदण्ड हैं—एक अपने लिए और दूसरा अपनी बहन के लिए। वह अपने मिथ्या आत्म-सम्मान के लिए नीच से नीच काम करने और किसी तरह की भी झूठी बात कहने के लिए तैयार हो जाता है।

इस उपन्यास में यथेष्ट करुणा है। भयानक और वीभत्स दृश्यों की कमी नहीं है। शृंगार रस को यथासंभव मूल कथावस्तु की सीमाओं में बाँध कर रखा गया है। हास्य और व्यंग्य ने कथा को रोचक बनाया है और उपन्यासकार के उद्देश्य को निखारा है। उपन्यास में जगह-जगह पंजाबी भाषा और लोक-गीतों का सौंदर्य झलक उठता है।

शीलो के चरित्र में लेखक ने भारतीय नारी के दबे हुए शौर्य का चित्रण किया है। पाठक को लगता है कि तारा में यदि शीलो की वीरता का थोड़ा अंश और होता तो वह अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने से बच जाती। तारा को डाँट कर शीलो कहती है—'लानत है ऐसी लड़की पर जो ऐसे बेहिम्मते पर मरे और लानत है ऐसे मर्द पर जो प्रेम करे और हिम्मत न हो!'

बंती का दुःखमय अन्त तारा की करुण कथा से भी अधिक हृदय-द्रावक है। पति से बिछुड़ गई थी लेकिन जब भटकती हुई मिली तो घरवालों ने दरवाजे बंद कर लिये। चौखट पर सर पटक-पटक कर वह जान दे देती है लेकिन न तो कोई घर के दरवाजे खोलता है, न कोई बंती को मरने से बचा पाता है। तारा स्वयं बहुत कमजोर है। 'उसके घुटनों के समीप बंती का शरीर पड़ा था। चेहरा खून से लथपथ, मक्खियाँ बैठ रही थीं। समीप अनवढ़ाया कोरा लाल कपड़ा गली के फर्श पर पड़ा था।' इस दृश्य के लिए मुसलमान जिम्मेदार न थे; बंती का बलिदान हिन्दू रूढ़िवाद की चौखट पर हुआ।

एक पंजाबी किसान का बच्चा मरता है

११ | यशपाल जी का झूठा-सच

'झूठा-सच' यशपाल जी के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी गिनती हिन्दी के नये-पुराने श्रेष्ठ उपन्यासों में होगी—यह भी निश्चित है। पहले भाग में ३१७ और दूसरे भाग में ७०६ पृष्ठ हैं। इतने पृष्ठ लिखना ही बहुत बड़ी मेहनत का काम है, उन्हें कलात्मक ढंग से लिखना जीवन की बड़ी सफलता मानना चाहिए।

उपन्यास की कथावस्तु का क्षेत्र काफी व्यापक है। भौगोलिक दृष्टि से उसका प्रसार लाहौर से दिल्ली और लखनऊ तक है। काल-क्रम के विचार से कथा का आरम्भ स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले से होता है और उसका अन्त स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त की झाँकी से होता है। पात्रों के विचार से इसमें विभिन्न जातियों, वर्गों, राजनीतिक पार्टियों और अवस्था के नर-नारियों का चित्रण है। इस तरह यह उपन्यास हमारे सामाजिक जीवन का एक विशद चित्र उपस्थित करता है।

इस उपन्यास का राजनीतिक महत्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखलाता है। ये शक्तियाँ अभी समाप्त नहीं हुईं वरन् धर्म और संस्कृति के नाम पर अब भी जनता के कुछ हिस्सों को गुमराह करती हैं और हत्या, दंगे, नरमेध संगठित करने में सफल हो जाती हैं। जो बातें पहले अखबारी प्रचार से आरम्भ होती हैं, उनकी परिणति स्त्रियों की बेइज्जती, बच्चों की हत्या, बूढ़ों नौजवानों की अकाल मृत्यु में होती है। इस बर्बरता को जड़ से खत्म करना आज भी हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य बना हुआ है।

उपन्यास में कांग्रेस के अवसरवादी नेतृत्व पर काफी ध्यान केन्द्रित किया गया है। स्वाधीनता प्राप्ति से पहले इस नेतृत्व ने क्रांति से भय खाकर समझौते का रास्ता अपनाया। इस समझौते की परिणति देश के बँटवारे और लाखों स्त्री-पुरुषों के स्थान बदलने तथा हत्याकांडों के रूप में हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इस अवसरवादी नेतृत्व ने जनता की आकांक्षाएँ पूरी नहीं कीं वरन् [illegible] उन्हें ठुकरा कर अपने वर्ग स्वार्थ सिद्ध किये। [illegible]

पूँजीपतियों की आलोचना करते हुए उन्हीं का सा जीवन बिताना चाहता है। इसीलिए जयदेव पुरी और उसकी बहन तारा दोनों ही इसी पूँजीपति वर्ग के चाकर बनने में अपने जीवन की सफलता देखते है।

तारा अण्डर-सेक्रेटरी बनी; नारी कल्याण केन्द्रों की अध्यक्ष हुई। अब उसे अच्छा मकान ही नहीं, मोटर की जरूरत भी महसूस होती है। "बरस-भर तक कई गाड़ियाँ नापसन्द करते-करते ऐसी उमग आई कि सरकार से कर्ज लेकर बिलकुल नयी और बड़ी गाड़ी खरीद ली। वह गाड़ी तारा की पूरी कमाई और कर्ज समेट कर उसका सर्वस्व बन गई थी। काले नग की तरह उज्ज्वल, क्रोमियम की पत्तियों की रेखाओं से बंधी, भीतर लाल मखमली कार्ड से मढ़ी उस गाड़ी से अधिक चिन्ता और रखवाली की वस्तु संसार मे तारा के लिए दूसरी नहीं थी।"

उसने जीवन में जो कुछ देखा-सुना था, समाज को भीतर से जितना पहचाना था, उससे उसमें क्रान्तिकारी उत्साह जाग्रत नहीं होता। उसका ध्येय किसी तरह आराम से जिन्दगी बिताना भर हो जाता है। इस आराम की जिन्दगी के लिए वह आत्मसम्मान की भावना को दबाती है; अपनी मुस्कान बिखेर कर वह बिज़नेस करती है। यशपाल जी का व्यंग्य यहाँ सो जाता है; वह तारा का पतन देखकर भी देख नहीं पाते।

दो आदमी शराब पी रहे हैं। सामने तारा है। "रावत ने अगरवाला पर क्रोध दिखाया—'क्यों लाला क्या मतलब है? लड़की को कब्जे से निकल जाने देना नहीं चाहते?'

'जनाब मेरी क्या औकात।' अगरवाला हँस दिये, 'मैं आपके मुकाबिले कैसे आ सकता हूँ!'

तारा को अपने सम्बन्ध मे मज़ाक अच्छा नहीं लगा परन्तु खुशामद मे सराहना के लिए उसने रावत की ओर आँख उठाकर ज़रा मुस्करा दिया।

'यह देखिये!' अगरवाला बोल उठे, 'आप ही के सामने क्लश करती है। हमारे सामने तो मुस्कराती भी नहीं।'

तारा ने झेंप कर अगरवाला की ओर भी देखकर मुस्करा दिया ताकि किसी भी ओर झुकाव न समझा जा सके।"

सामाजिक जीवन को इस अवसरवादी दृष्टिकोण से देखने-परखने पर सभी राजनीतिक कार्यवाही व्यर्थ मालूम होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले भारतीय जनता की निष्क्रियता को यशपाल जी ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी यह जनता निष्क्रिय बनी रहती है और कम्युनिस्ट पार्टी व्यर्थ उत्पात मचाती दीख पड़ती है। तारा से पूछा जाता है, वह किसी राजनीतिक पार्टी की सदस्या तो नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक सघ और कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध या सहानुभूति तो नहीं है। तारा का उत्तर है—'जी नहीं'। और इसका

पूँजीपतियों की आलोचना करते हुए उन्ही का सा जीवन बिताना चाहता है। इसीलिए जयदेव पुरी और उसकी बहन तारा दोनों ही इसी पूँजीपति वर्ग के चाकर बनने में अपने जीवन की सफलता देखते हैं।

तारा अण्डर-सेक्रेटरी बनी; नारी कल्याण केन्द्रों की अध्यक्ष हुई। अब उसे अच्छा मकान ही नही, मोटर की जरूरत भी महसूस होती है। "बरस-भर तक कई गाड़ियाँ नापसन्द करते-करते ऐसी उमग आई कि सरकार मे कर्ज लेकर बिलकुल नयी और बड़ी गाड़ी खरीद ली। वह गाड़ी तारा की पूरी कमाई और कर्ज समेट कर उसका सर्वस्व बन गई थी। काले नग की तरह उज्ज्वल, क्रोमियम की पत्तियों की रेखाओं से बंधी, भीतर लाल मखमली काई से मढ़ी उस गाड़ी से अधिक चिन्ता और रखवाली की वस्तु संसार मे तारा के लिए दूसरी नही थी।"

उसने जीवन मे जो कुछ देखा-सुना था, समाज को भीतर से जितना पहचाना था, उसने उसमे क्रान्तिकारी उत्साह जाग्रत नहीं होता। उसका ध्येय किसी तरह आराम से जिन्दगी बिताना भर हो जाता है। इस आराम की जिन्दगी के लिए वह आत्मसम्मान की भावना को दबाती है; अपनी मुस्कान बिखेर कर वह बिज़नेस करती है। यशपाल जी का व्यंग्य यहाँ सो जाता है; वह तारा का पतन देखकर भी देख नही पाते।

दो आदमी शराब पी रहे हैं। सामने तारा है। "रावत ने अगरवाला पर क्रोध दिखाया—'क्यों लाला क्या मतलब है? लड़की को कब्जे से निकल जाने देना नही चाहते?'

'जनाब मेरी क्या औकात।' अगरवाला हँस दिये, 'मैं आपके मुकाबिले कैसे आ सकता हूँ!'

तारा को अपने सम्बन्ध में मजाक अच्छा नही लगा परन्तु खुशामद मे सराहना के लिए उसने रावत की ओर आँख उठाकर जरा मुस्करा दिया।

'यह देखिये!' अगरवाला बोल उठे, 'आप ही के सामने स्माइल करती हैं। हमारे सामने तो मुस्कराती भी नहीं।'

तारा ने झेंप कर अगरवाला की ओर भी देखकर मुस्करा दिया ताकि किसी की ओर झुकाव न समझा जा सके।"

सामाजिक जीवन को इस अवसरवादी दृष्टिकोण से देखने-परखने पर सभी राजनीतिक कार्यवाही व्यर्थ मालूम होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले भारतीय जनता की निष्क्रियता को यशपाल जी ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी यह जनता निष्क्रिय बनी रहती है और कम्युनिस्ट पार्टी व्यर्थ उत्पात मचाती दीख पड़ती है। तारा से पूछा जाता है, वह किसी पार्टी की सदस्या तो नहीं है। राष्ट्रीय ...
सम्बन्ध या सहानुभूति ... । तारा

१२ दिनकर की उर्वशी : दो दृष्टिकोण

दिनकर, यशपाल और अमृतलाल नागर की पीढ़ी के लोग अपने-अपने क्षेत्र में साहित्य के उत्कर्ष के लिए जैसा प्रयत्न कर रहे हैं, वह साहित्य के इतिहास की स्मरणीय घटना है। इलाचन्द्र जोशी ने दमित कामेच्छाओं के दायरे से आगे बढ़ कर 'जहाज का पंछी' लिखा। श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' छोड़कर सीधी राह पर 'भूले बिसरे चित्र' का निर्माण किया। यशपाल जी ने दादा कॉमरेड, मनुष्य के रूप की परिपाटी से काफी परे हट कर 'झूठा-सच' लिखा। श्री अमृतलाल नागर ने अपनी पूर्व सुनिश्चित राह पर आगे बढ़ते हुए 'बूंद और समुद्र' की रचना की। जैसे सन् २० से ४० तक के दो दशक हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व उत्थान के दशक थे, वैसे ही ५२ से ६२ तक का यह दशक भी साहित्य में नये प्रयत्नों, नये उत्कर्षों का दशक है। कुण्ठावादी अजायबघर के मित्र देखें, किस तरह हिन्दी साहित्य समर्थ डग रखता हुआ आगे बढ़ रहा है और उसका यह प्रशस्त राजमार्ग कोल्हू के बैल के घुटन-चक्र से कितना भिन्न है। कवि दिनकर की कृति 'उर्वशी' को इसी उत्कर्ष-सन्दर्भ में देखना चाहिए।

'उर्वशी' दिनकर जी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह वास्तव में उनका शिखर ग्रंथ है। इसकी रचना के पीछे उनका भगीरथ प्रयास है, यह असन्दिग्ध सत्य है। यह प्रयास अक्षम कवि का असफल महत्वाकांक्षी प्रयास नहीं है। यह एक ऐसे कवि का प्रयास है जो कुरुक्षेत्र में पर्याप्त सफलता पा चुका था लेकिन जो उस तरह की सफलता से संतुष्ट न होकर नये चिन्तन और नई अनुभूतियों की ओर बढ़ा है, उसने नई समस्याओं से उलझने और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करने का साहस दिखाया है। सामयिक कविता की उपलब्धियाँ, उसके आयाम और उसकी दिशाएँ, इस पेड़ के आसपास उगे हुए झाड़-झंखाड़ जैसी लगती हैं। कल्पना और यथार्थ, दर्शन और शृंगार के अद्भुत सम्मिश्रण के कारण यह ग्रंथ प्रत्येक मनीषी कवि और काव्य-प्रेमी के चिन्तन अध्ययन और रसास्वादन का केन्द्र बनेगा।

अधिकांश महत्त्वपूर्ण कलाकृतियों के समान 'उर्वशी' निर्दोष नहीं है.

रवा की उत्पन्न लहरों की
परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ
भेद उसका जान लूँ।
पन्थ हो सौन्दर्य की
आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को
पहचान लूँ।

मनुष्य की चिरन्तन ज्ञान-पिपासा उसे आगे ठेलती है, वह कभी शान्त
होती, इसीलिए ज्ञान एक अजस्र धारा है जिसमें मनुष्य अपनी तृषा शान्त
है और साथ ही उसमें अपने संचित ज्ञान के कण भी मिला देता है। पुरु
समस्या यह है :

गीत आता है मही से ?
या कि मेरे ही रुधिर का राग
यह उठता गगन में ?

पुरुरवा का प्रश्न औरों ने भी किया है लेकिन पुरुरवा की तरह उन्हें इस
का पता न था कि :

महाशून्य का उत्स
हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना
काल के आदि मूल को छूकर।

चेतना एक प्रवाह है। मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना इस प्रवाह की लहर
है; वह सम्पूर्ण प्रवाह नहीं है। इसीलिए पुरुरवा ज्ञान की असीम तृषा लेकर भी
शान्त नहीं कर पाता क्योंकि वह किसी एक के जीवन में शान्त हो नहीं सकत

और सापेक्ष चेतना की सीमाओं में मनुष्य को जो सुख-सन्तोष मिलता है,
स्वर्ग की कल्पना से कम मधुर नहीं। नर-नारी का सम्बन्ध और नये जीव
उत्पत्ति, इस चिरन्तन सापेक्ष व्यापार (अथवा व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्
को दिनकर जी ने मार्मिक ढंग से प्रकट किया है :

नारी ही वह महासेतु,
जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज, नव प्राण
दृश्य-जग में आते रहते हैं।

मनुष्य से छिप कर
महाशून्य, चुपचाप
जहाँ आकार ग्रहण करता है।

इस काव्य ग्रंथ में कवि अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। जो कुछ कहता है, दूसरों के मुँह से। उर्वशी का प्रेम तभी सफल होता है जब वह मानवी के समान पुत्रवती होती है। जब उसका मानवी के समान धरती पर रहना असम्भव हो जाता है, तब उसके प्रेम का भी अन्त हो जाता है। किन्तु सापेक्ष चेतना के क्षेत्र में पुरुरवा और उर्वशी की संयुक्त सृष्टि—उनका पुत्र—कर्ममय जीवन में बँधे रह कर उस अजस्र चेतना-प्रवाह को आगे बढ़ने का बल देता है। यही जीवन की, मनुष्य की, सापेक्ष चेतना और कर्म की, ज्ञान और कर्म के चिरन्तन समन्वय की विजय है। काव्य से उर्वशी की इस कृति—उसके पुत्र—को निकाल दें तो उसका सारा विलास-व्यापार निरुद्देश्य कवि-कल्पना मात्र लगे। प्रारब्ध पुरुरवा को उपदेश देता है, उसे स्वर्ग से पुनः उर्वशी को लाने से बरजता है, वह इसी भविष्य की ओर संकेत करता है। प्रारब्ध का यह स्वर न तो नियति के सहारे निष्क्रिय जीवन बिताने का संकेत करता है, न वह कर्म-विमुख होकर आध्यात्मिक साधना का निर्देश करता है। वह आस्था का स्वर है, और उसकी सामयिक सार्थकता में किसी भी जागरूक पाठक को सन्देह नहीं हो सकता।

चिन्तन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिन्ता से,
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि
तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में
ध्वनियाँ पहुँच रही है।

यही वह अजस्र जीवन-प्रवाह है जिससे मनुष्य बँधा हुआ है। यहीं परोक्ष और प्रत्यक्ष के छोर आकर मिलते है। इस मानव जीवन की सापेक्ष प्रवहमानता के परे ज्ञान का कोई अमानवीय निरपेक्ष स्रोत नहीं है। 'उर्वशी' काव्य का यही मर्म-संकेत है।

जीवन की स्वीकृति और मानव-जीवन में आस्था के कारण, आनन्द की आकांक्षा के साथ अतृप्ति के उद्वेग को व्यक्त करने के कारण—निरपेक्ष ज्ञान की तृषा के साथ सापेक्ष ज्ञान की उदात्त अभिव्यंजना के कारण—'उर्वशी' हिन्दी काव्य का कीर्ति-स्तम्भ है। इसमें भी सन्देह नहीं कि दिनकर ने इस काव्य माध्यम से पाठक को हिन्दी भाषा की नवीन अभिव्यंजना-क्षमता से परिचित
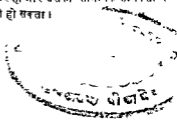
कराया है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपनी साधना में कुछ उठा नहीं रखा और वह जो सुन्दरतम कृति हिन्दी को दे सकते थे, वह उन्होंने दी है। वह अपने *प्रयत्न की गरिमा-मात्र के विचार से प्रशंसनीय हैं।*

यह देश दार्शनिक चिन्तन के लिए विख्यात रहा है। हिन्दी के प्रमुख कवि अपनी रचनाओं में विभिन्न रसों की सृष्टि के साथ दार्शनिक समस्याओं का भी *न्यूनाधिक सरस विवेचन करते रहे हैं। इसलिए दिनकर जी ने उर्वशी में दार्शनिक* समस्याओं की चर्चा की तो यह स्वाभाविक ही था। पुरुरवा और उर्वशी की कथा से उन्हें इसीलिए दिलचस्पी नहीं है कि कथा रोचक है; उनके लिए पुरुरवा और *उर्वशी कहीं मानवीय भावनाओं के प्रतीक भी हैं।*

भूमिका में उन्होंने लिखा है कि पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का। इस प्रतीकवाद में कुछ उलझनें हैं। उर्वशी किस तरह की *नारी है? भूमिका में उसके बारे में आगे लिखा है कि वह देवलोक से उतरी हुई* नारी है। भूमिका से भिन्न काव्य में वह सनातन नारी मात्र का प्रतीक न होकर कल्पनालोक की वाराङ्गना के रूप में अधिक दिखाई देती है। उसी के वर्ग की *अप्सरा रंभा कहती है—*

प्रेम हमारा स्वाद,
मानवी की आकुल पीड़ा है।

पुरुरवा की पत्नी औशीनरी उर्वशी को गणिका कहती है, 'जाने इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था।'

चित्रलेखा कहती है, 'हम कुछ नहीं, रश्मियाँ हैं मात्र अमुक्त मदन की।'

स्वयं उर्वशी कहती है, 'नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसनेवाली।'

वह नारी से अधिक नारी की कल्पना है, इसीलिए वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान की बाधाओं से अपने को मुक्त मानती है। इसी कारण वह बच्चे को जन्म देने के बाद उसे पालती नहीं है, वरन् दूसरे पर छोड़कर पुनः पति अथवा प्रेमी के साथ विहार करती है और जैसे ही पुत्र और पिता का मिलन हुआ, वैसे ही शाप के प्रभाव से वह दोनों को छोड़कर स्वर्ग चली जाती है।

इस तरह उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक न होकर अनन्त यौवन और सौंदर्य की कल्पना का प्रतीक है। इसी कारण काव्य भर में कल्पना और यथार्थ का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। चित्रलेखा द्वारा कवि ने गृहस्थ धर्म का [illegible] [illegible] है, फिर भी इस पुस्तक में गृहस्थ वधू वाराङ्गना से पराजित होती है। [illegible] का विचार है कि जब तक [illegible] उत्पन्न है, तब तक किसी एक से [illegible] का प्यार [illegible] लेना चाहिए। यौवन पुरुष को बांधे रखने का साधन मात्र [illegible] है। यह कल्पना भी सदा काम नहीं देता। [illegible] को [illegible] [illegible] उर्वशी के समान अपनी काम [illegible] द्वारा [illegible] [illegible]

अपने साथ न रख सकी :

रही समेटे अलंकार क्यों
लज्जामयी वधू-सी ?
बिखर पड़ी क्यों नहीं कुट्टमित,
चकित, ललित, लीला में ?

दुर्भाग्य से यह चकित ललित लीला हर शहर की सड़क पर दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जाती है किन्तु इससे गृहस्थ जीवन स्वस्थ और सुदृढ़ होने के बदले और भी खोखला होता जाता है।

पुरूरवा का श्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा ही है। उर्वशी को विलास-व्यापार के अलावा और कोई काम नहीं। खाना कैसे पचता होगा या राम जाने हवा खाकर ही जीती थी। श्रम के महत्त्व को अस्वीकार करके कोई भी काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता।

इस पुस्तक में इस बात पर सही जोर दिया गया है कि प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर ईश्वर प्राप्ति नहीं होती। उर्वशी ठीक कहती है कि मनुष्य स्वयं प्रकृति है; इसलिए अपने से भागकर वह कहाँ जाएगा? लेकिन वह जीवन को निरुद्देश्य मानती है। उसका कहना है कि परिवर्तन की प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राणधारा है; मुक्त वही है जो सहज भाव से बहते है—किसी ध्येय के लिए नहीं, केवल बहते रहने को।

उसे ज्ञान प्राप्ति में विश्वास नहीं है क्योंकि हार मानकर प्रजा अपना सिर थामकर बैठ जाती है।

इसलिए काम-धर्म पालन के सिवा उसे कोई अन्य धर्म नहीं दिखाई देता। कठिनाई यह है कि उर्वशी तो अनन्त यौवन है। किन्तु पुरूरवा के साथ बुढ़ापे का डर भी लगा है। उस सहज काम-धर्म का पालन मनुष्य कब तक करे? उर्वशी बहुत कुछ ठीक कहती है, 'तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।'

इस पुस्तक में अमृत के साथ थोड़ा-बहुत गरल भी है। भूमिका में कवि का कथन है, 'किन्तु, उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नहीं जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रखकर यह काव्य मुझसे लिखवा लिया।' भगवान हर पाठक को इस प्रकार ग्रसित होने से बचाए।

पुरूरवा की दार्शनिक दुविधा यह है कि मनुष्य देह से प्रेम करके तब पहुँच जाता है। प्लेटो और उसके अनुयायियों ने इस प्रेमदर्शन का प्रचार किया था और उसकी प्रतिध्वनियाँ इस काव्य में भी

और घूमते हम अधेड़ हो
जब अनाम अधरों को,
यह चुम्बन अदृश्य के कारण

यु पर ही निर्भर है।

भाषा के कौन से तत्व जल्दी बदलते हैं, कौन से देर में बदलते हैं या नही दलते, इस विषय मे वाजपेयी जी ने लिखा है, "किसी भी भाषा के मूल शब्द सका 'मूल धन' हैं, या होते हैं—१—क्रियापद, २—अव्यय, ३—विभक्तियाँ था ४—सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तंभ हैं, जिन पर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र स्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नही, कभी भी किसी दूसरी भाषा कोई भाषा नही लेती।" (पृ० ४०) यदि इस नियम के अनुसार हिन्दी-उर्दू मस्या पर विचार किया जाय तो बहुत जल्दी समझ में आ जाये कि ये दोनो भन्न भाषाएँ हैं या एक हैं। इसी प्रकार अवधी, व्रज, बुंदेलखण्डी स्वतन्त्र भाषाए या हिन्दी की बोलियाँ हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने मे भी सहायता मिले। ास्तव मे भाषा-विज्ञान के अनेक पंडित भाषा के 'मूल धन' की समस्या से परिचत ही नहीं है। इसी कारण तमिल आदि दक्षिण की भाषाओ के मूलधन पर यान न देकर उन्हें भी सस्कृत की पुत्रियाँ कह दिया जाता है। क्रियापद, सर्वनाम ादि तत्वो का भी आदान-प्रदान होता है यथा 'आजमाना' क्रिया, किन्तु इस रह के उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि भाषा की स्वतन्त्रता उपर्युक्त तत्वों र अवलंबित नही है।

वाजपेयी जी भाषा को विकासमान समझते हैं; जनता के प्रयोग भाषा की मुख्य नियामक शक्ति हैं। उनका कहना है कि "जन-प्रवाह ने जिस शब्द को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया।" (पृ० ४३) यदि जन-प्रवाह के प्रति हिन्दी विद्वानो की यह धारणा होती तो उनकी शैली तत्सम-प्रधान न होकर सरल, तद्भव-प्रधान, भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली के अधिक निकट होती। वाजपेयी जी को तद्भव शब्दो से प्रेम है। जनप्रवाह को महत्व देने के कारण वे हिन्दी की प्रकृति को हिन्दी के अन्य वैयाकरणों और भाषा-विज्ञानियो की अपेक्षा ज्यादा पहचानते हैं। उन्होंने उचित ओज से घोषित किया है, "तद्भव शब्दों का तो अटूट भंडार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नही सकते जैसे दस, बीस।" (पृ० ४४) वे व्याकरण का महत्व जानते हैं और उसकी सीमाएँ भी पहचानते हैं। "व्याकरण का दर्पभंग, पद-प्रयोग के मार्ग में, जनता कर देती है।" (पृ० ६२) "जब पाणिनि का प्रयोग भाषा में गति-विरुद्ध होने के कारण नहीं चला, तो हम पामर जनो की चर्चा ही क्या!" (पृ० ८०) "बीस-बीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बना कर कैसे कोई मोड़े?" (पृ० १८२)। हिन्दी ही नही, अनेक अहिन्दी भाषा-विज्ञानी कभी-कभी हिन्दी व्याकरण को अपनी रुचि के अनुसार गढ़ने की इच्छा प्रकट करते है। विशेष रूप से वे चाहते हैं कि हिन्दी से लिंगभेद मिटा दिया जाय। लेकिन जन-प्रवाह को नियम बना कर कौन मोड़े?" "हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई

आयु पर ही निर्भर है।

भाषा के कौन से तत्व जल्दी बदलते हैं, कौन से देर मे बदलते हैं या नही बदलते, इस विषय मे वाजपेयी जी ने लिखा है, "किसी भी भाषा के मूल शब्द उसका 'मूल धन' हैं, या होते हैं—१—क्रियापद, २—अव्यय, ३—विभक्तियाँ तथा ४—सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तंभ हैं, जिन पर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नही, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नही लेती।" (पृ० ४०) यदि इस नियम के अनुसार हिन्दी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय तो बहुत जल्दी समझ मे आ जाये कि ये दोनो भिन्न भाषाएँ हैं या एक हैं। इसी प्रकार अवधी, ब्रज, बुंदेलखण्डी स्वतन्त्र भाषाएं हैं या हिन्दी की बोलियाँ हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने में भी सहायता मिले। वास्तव मे भाषा-विज्ञान के अनेक पंडित भाषा के 'मूल धन' की समस्या से परिचित ही नही है। इसी कारण तमिल आदि दक्षिण की भाषाओं के मूलधन पर ध्यान न देकर उन्हे भी संस्कृत की पुत्रियाँ कह दिया जाता है। क्रियापद, सर्वनाम आदि तत्वों का भी आदान-प्रदान होता है यथा 'आजमाना' क्रिया, किन्तु इस तरह के उदाहरणों से यह सिद्ध नही होता कि भाषा की स्वतन्त्रता उपर्युक्त तत्वों पर अवलंबित नही है।

वाजपेयी जी भाषा को विकासमान समझते हैं, जनता के प्रयोग भाषा की मुख्य नियामक शक्ति हैं। उनका कहना है कि "जन-प्रवाह ने जिस शब्द को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया।" (पृ० ४३) यदि जन-प्रवाह के प्रति हिन्दी विद्वानों की यह धारणा होती तो उनकी शैली तत्सम-प्रधान न होकर सरल, तद्-भव-प्रधान, भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली के अधिक निकट होती। वाजपेयी जी को तद्भव शब्दो से प्रेम है। जनप्रवाह को महत्व देने के कारण वे हिन्दी की प्रकृति को हिन्दी के अन्य वैयाकरणों और भाषा-विज्ञानियो की अपेक्षा ज्यादा पहचानते हैं। उन्होने उचित ओज मे घोषित किया है, "तद्भव शब्दों का तो अटूट भंडार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नही सकते जैसे दस, बीस।" (पृ० ४४) वे व्याकरण का महत्व जानते हैं और उसकी सीमाएँ भी पहचानते हैं। "व्याकरण का दर्पभंग, पद-प्रयोग के मार्ग मे, जनता कर देती है।" (पृ० ६२) "जब पाणिनि का प्रयोग भाषा मे गति-विरुद्ध होने के कारण नहीं चला, तो हम पामर जनों की चर्चा ही क्या!" (पृ० ८०) "बीस-तीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बना कर कैसे कोई मोड़े?" (पृ० १८५)। हिन्दी ही नही, अनेक अहिन्दी भाषा-विज्ञानी कभी-कभी हिन्दी व्याकरण को अपनी रुचि के अनुसार गढ़ने की इच्छा प्रकट करते हैं। विशेष रूप से वे चाहते हैं कि हिन्दी से लिंगभेद मिटा दिया जाय। लेकिन जन-प्रवाह को नियम बना कर कौन मोड़े?" "हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई

के आये दिन हिन्दी को संस्कृत की पुत्री न घोषित किया जाय। पुत्री घोषित करने का कारण भाषा के शब्द भंडार से भिन्न, उसके व्याकरण के महत्व को न पहचानना है। वाजपेयी जी ने उचित ही प्रश्न किया है, "करोति से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा? राम : करोति की तरह सीता करोति भी संस्कृत में चलता है, परन्तु हिन्दी में 'लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द-रूप संस्कृत के चल्, कृ, खाद् से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस मेल-जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से 'चलता' निकल पड़ा। दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है।" यह तर्क-पद्धति बिलकुल सही है। जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी व्याकरण की विशेषताओं का मूल स्रोत संस्कृत-व्याकरण है, तब तक शब्द-साम्य के आधार पर हिन्दी को संस्कृत की पुत्री नहीं कहा जा सकता।

वाजपेयी जी संस्कृत और हिन्दी को किसी एक मूल भाषा की शाखाएँ मानते हैं। 'दोनों' का पृथक् और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है, परन्तु हैं दोनों एक ही मूल भाषा की शाखाएँ। बहुत बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ये, इतनी बड़ी कि तना कहीं दिखाई भी नहीं देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नहीं पाता कि कहाँ से ये चली हैं!" (पृ० १) इससे सिद्ध हुआ कि वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी के अनेक मूल तत्व अत्यन्त प्राचीन हैं और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढ़ी के सहारे हम हिन्दी की प्रकृति तक नहीं पहुँच सकते। वाजपेयी ने एक मिसाल दी है 'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना।' उपसर्ग प्रति का प्रयोग संज्ञा की तरह हुआ है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में कहाँ से आई? "हिन्दी में यों उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग करने की प्रवृत्ति 'मूल भाषा' से ही आई है।" (पृ० २४)

संस्कृत के आकारान्त स्त्री वाचक शब्दों को हिन्दी उनकी 'लवमानता' हटा कर अपनाती है, द्राक्षा को दाख, खट्वा को खाट बनाकर। "तो, यह संस्कृत (तथा उपलब्ध प्राकृतों) से एकदम उलटी पद्धति है न? यह पद्धति प्राकृत के किस रूप से आई? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में जो जनभाषा व्यवहृत होती होगी, उसी की यह पद्धति हो सकती है।" (पृ० १६) इस तरह के उदाहरण देकर वाजपेयी जी ने संस्कृत से भिन्न हिन्दी की विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनका संकेत इस तथ्य की ओर भी जान पड़ता है कि संस्कृत के समानान्तर यहाँ विभिन्न जनपदों में अन्य भाषाएँ बोली जाती थीं। उन्हीं प्राचीन भाषाओं से हिन्दी आदि नवीन भाषाओं का उद्भव और विकास हुआ है।

हिन्दी में 'तुम्हीं ने', 'हमीं ने' आदि प्रयोग उचित हैं। हम और ने के बीच में 'ही' आ गया। "यह हिन्दी की प्रकृति है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता।" (पृ० २५) संस्कृत में राष्ट्रिय भले शुद्ध हो, हिन्दी में राष्ट्रीय ही चलेगा क्योंकि "हिन्दी

कर लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए। हिन्दी के सन्धिनियम, समास-नियम अपने हैं।

वाजपेयी जी ने हिन्दी की बोलियों का संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने पंजाबी को स्वतंत्र भाषा किन्तु राजस्थानी, कमायूनी और गढ़वाली को हिन्दी की बोलियाँ ही कहा है। मैथिली, ब्रज, अवधी आदि को उन्होंने उचित ही हिन्दी की बोलियाँ घोषित किया है। उनका यह सुझाव ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी को अपनी बोलियों से शब्द लेने चाहिए। वाजपेयी जी एक ओर सिर के बदले मूड़ चलाने के पक्ष में नहीं हैं, दूसरी ओर जनपदों के शब्दों को प्रत्येक दशा में हिन्दी की परिधि से बाहर भी रखना नहीं चाहते। इसी प्रकार वे उर्दू के प्रचलित शब्दों को अपनाने और भाषा में उनका व्यवहार करने के पक्ष में हैं। "मेरी भाषा में 'असली', 'चीज', 'जरूर' आदि विदेशी शब्द आते हैं। रम गए हैं। मैं इन्हें जबर्दस्ती निकालना नहीं।" (पृ० ४६) यह नीति प्रशंसनीय है क्योंकि बहुत से लेखक वास्तविक, वस्तु और आवश्यक के अभाव में भाषा को हिन्दी समझते ही नहीं।

पुस्तक में वाजपेयी ने शब्दों के प्रयोग के बारे में जो मत प्रकट किया है, वह सभी को मान्य भले न हो, विचारणीय सबके लिये अवश्य है। उनके सुझावों से हिन्दी का परिनिष्ठित रूप स्थिर होगा, इसमें सन्देह नहीं। लिंग-विवेचन के प्रकरण में उन्होंने जितनी बातें कही हैं, उनसे अहिन्दी-प्रेमियों को कम से कम इतना जरूर मालूम हो जायगा कि इस जटिलता के ऐतिहासिक कारण हैं। अनेक मौलिक उद्‌भावनाओं में कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण ये हैं। वाजपेयी जी ने 'कितना' का मूल-रूप 'केतरा' माना है, 'इतना' का 'एतना', 'उतना' का 'ओतना'। (पृ० ८८-८९) इससे तथा ऐसे अन्य उदाहरणों से पता चलता है कि वर्तमान हिन्दी के विकास में पूर्वी बोलियों की भूमिका नगण्य नहीं है और इस विषय पर और अनुसन्धान होना चाहिये।

महाप्राण व्यंजनों के प्रसंग में वाजपेयी जी ने लिखा है, "भाषा के विकास में 'ह' वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।" (पृ० ९८) कश्मीर से असम तक और पश्चिम में गुजरात और महाराष्ट्र तक श, स के स्थान में विशेष रूप से तथा घ, थ आदि व्यंजनों के स्थान में साधारणतः यह ह अपना रंग जमाता हुआ दिखाई देता है। इस पर ध्यान दिये बिना कम से कम उत्तर भारत की भाषाओं का विकास समझ में नहीं आ सकता।

जो लोग 'को', 'ने' आदि को विभक्ति के बदले परसर्ग कहते हैं, उनके तर्क का उत्तर देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "संस्कृत की विभक्तियाँ भी तो किन्हीं शब्दों के घिसे हुए रूप कही जा सकती हैं न ?" (पृष्ठ १७१) संस्कृत की विभ-[illegible] शब्द थीं, यह स्थापना काफी हद तक तुलनात्मक भाषाविज्ञान

सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में कर्ता ने विभक्ति के साथ रहता है; राम ने काम किया; राम ने पुस्तक ली। लेकिन राम पुस्तक लाया, लड़की फल लाई—इन वाक्यों में ने का अभाव है। वाजपेयी जी ने बड़ी सूझबूझ से इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि 'ला' धातु संयुक्त है; अन्त में 'आ' है। इसीलिये भूतकाल में 'आया' की तरह 'लाया' के साथ भी कर्ता को 'ने' स्वीकार नहीं है। (पृष्ठ १४७) इस तरह के उदाहरणों से पाठक कल्पना कर सकते हैं कि वाजपेयी जी ने कितने वर्षों तक, कितनी लगन से और कितने निःस्वार्थ भाव से इन समस्याओं पर विचार किया होगा। उनकी यह साधना अनुकरणीय है।

पूर्वी बोलियों से भिन्न हिन्दी में 'ने' के प्रयोग के बारे में उन्होंने लिखा है, "यह 'ने' हिन्दी में प्राकृत के किस रूप से आई है, पता नहीं चलता! परन्तु आई तो प्राकृत की ही किसी धारा से है, इसमें सन्देह नहीं। साधारण अपढ़ जनता संस्कृत से कैसे प्रभावित हो सकती है! प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में, कुरु जन पद में (उत्तर प्रदेश के मेरठ डिवीजन में) जनगृहीत रहा होगा। अन्यथा वहाँ 'ने' कैसे कूद पड़ती? और कहीं क्यों न कूद पड़ी? संस्कृत के गढ़ काशी-क्षेत्र में वह क्यों न अवतरित हो गई? खड़ी बोली के क्षेत्र में कदाचित् संस्कृत भी कृदन्त-प्रधान ही कभी चलती हो।" राजशेखर ने लिखा था कि उदीच्य लोग कृदन्त क्रियाएं बहुत पसन्द करते हैं, यह हवाला देने के बाद वाजपेयी ने लिखा है, "इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत-विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह भी संभव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में हो उनकी कलम से वैसा निकला हो, यद्यपि संस्कृत-ग्रन्थ में वे वैसा कह रहे हैं। उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जन-व्यवहार में मदद दे रही थी।" (पृष्ठ २६) इस पद्धति से हिन्दी-संस्कृत के सम्बन्धों पर विचार किया जाय तो भाषाविज्ञान की अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं। यहाँ मौलिक उद्भावना यह है कि संस्कृत ने ही हिन्दी को प्रभावित नहीं किया, हिन्दी ने भी संस्कृत को प्रभावित किया है।

वैदिक ताति से ताई (सुन्दरताई या ताई), वैदिक रामेभिः से रामेहिं, करहि से करै का विकास, अस्-भू तथा हिन्दी की ह, हो धातुओं का विवेचन—ऐसे अनेक तथ्य इस पुस्तक में मिलेंगे जो पहले चमत्कारी लगते हैं, फिर स्वाभाविक। कम से कम अपनी भाषा को नयी दृष्टि से देखने और उसके प्रयोगों पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा वे देते हैं। यह इस पुस्तक की बहुत बड़ी सफलता है।

व्याकरण और भाषाविज्ञान की पुस्तकें प्रायः नीरस होती हैं। विषय जितना कठिन होता है उससे ज्यादा कठिन विद्वत्ता की धाक जमाने के लिये बनाया जाता है। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक को यथेष्ट रोचक बनाया है। इसमें ग्रामगीतों के

टुकड़े हैं—"वगदि गयो पुलिया ते मेरो सरमीलो भरतार।" शैली अनेक उपमाओं से अलंकृत है। व्यंग्य और हास्य की छटा अलग दर्शनीय है। सभा के अधिकारियों का आग्रह न मानकर वाजपेयी जी ने अपनी शैली को ज्यों का त्यों रखा, उसे बदलने से इन्कार कर दिया, यह उन्होंने बहुत अच्छा किया। पाठकों से हमारा आग्रह है कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम से आतंकित न होकर वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। व्याकरण में रुचि न होने पर भी उन्हें पुस्तक से आनन्द-लाभ होगा क्योंकि वह जनसाधारण के लिये भी लिखी गई है।

अनेक बातें कई जगह दोहराई गई हैं, बजाज और हलवाई की उपमा की पुनरावृत्ति है, 'सो' की भरमार है, कुछ तथ्य गलत हैं जैसे कि यूरोप की सभी भाषाओं की लिपि रोमन है, बंगाल की वैष्णव कविता ब्रजभाषा में है, इत्यादि। बैंसवाड़े और अवध का उल्लेख इस तरह हुआ है मानो बैंसवाड़ा अवध से स्वतन्त्र प्रदेश हो, या बैंसवाड़ी अवध क्षेत्र से बाहर की बोली हो। कहीं-कहीं मजाक बहुत हल्के ढंग का है। ये दोष थोड़ी सावधानी से पुस्तक दोहराने पर दूर हो सकते थे और उसका कलेवर भी संक्षिप्त हो सकता था जिससे वह अधिक प्रभावशाली होती।

इन दोषों पर ध्यान न देकर पुस्तक की मूल स्थापनाओं पर विचार करना चाहिये। उसके दृष्टिकोण, तर्क-पद्धति, हिन्दी-प्राकृत-संस्कृत-सम्बन्ध-विवेचन पर ध्यान देना चाहिये, हिन्दी की प्रकृति, हिन्दी और उसकी बोलियों का सम्बन्ध पहचानना चाहिये। वाजपेयी जी को हिन्दी के वैयाकरणों और भाषा-वैज्ञानिकों से जो असन्तोष है, वह उचित है। उन्होंने उनका जो उपहास किया है, वह भी उचित है यद्यपि समुचित नहीं क्योंकि उनके गुरुओं पर उनकी दृष्टि नहीं गई। इस पुस्तक के महत्व पर अधिक न कह कर इस सम्बन्ध में वाजपेयी जी की ही उक्ति का समर्थन करते हैं, "बहुत बड़ा काम हो गया है।"

१४ आचार्य शुक्ल और ब्रजभाषा की परम्परा

हिन्दी-भाषी प्रदेश की बोलियाँ एक दूसरे से इतनी सम्बद्ध हैं कि उनमें से एक का इतिहास जानने के लिये अन्य सब का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इन बोलियों में ब्रजभाषा का अन्यतम स्थान है। उसने पश्चिम में खड़ीबोली—हिन्दी और उर्दू के दोनो रूपों—को ही प्रभावित नही किया, वरन् पूर्व मे अवधी, मैथिल आदि पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। इसके साथ ही वह स्वयं भी इन बोलियों से प्रभावित हुई है। बोलियों के परस्पर आदान-प्रदान की यह क्रिया आज भी समाप्त *नही हुई। वैसे तो भारत की सभी भाषाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, किन्तु एक ही भाषा-क्षेत्र में विभिन्न जनपदीय बोलियों का परस्पर आदान-प्रदान* एक भिन्न स्तर की प्रक्रिया है। डॉ० शिवप्रसादसिंह ने अपने शोध ग्रंथ 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' में ग्रन्थ के नामानुरूप सूरदास से पूर्व की ब्रज-भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन किया है। इस तरह का ग्रन्थ ब्रजभाषा के विकास को समझने में सहायक हो सकता है, साथ ही अन्य बोलियों के विकास, परस्पर सम्बन्ध और उनकी *साहित्य-सम्पदा का अध्ययन* करने में भी सहायता *कर सकता है।*

ग्रंथकर्ता ने आरम्भ में ब्रजभाषा के रिक्थ की चर्चा करते हुए वैदिक भाषा, पालि आदि की भाषा सम्बन्धी पृष्ठभूमि का चित्रण किया है। ब्रजभाषा के उद्‌गम के सिलसिले में हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों की भाषा का विश्लेषण किया है, बारहवीं से चौदहवीं विक्रमी शताब्दियों के 'सक्रान्तिकाल' में पिंगल, औक्तिक ब्रज, प्राकृतपिंगलम् और रासो आदि की भाषा की चर्चा है। अप्रकाशित सामग्री में उसने तेरह सूर-पूर्व पुस्तकों का विवेचन किया है जिनमें अधिकांश का *उल्लेख खोज-रिपोर्टों में हुआ था किन्तु जिनका न प्रकाशन हुआ है न विवेचन। "कवि ठक्कुरसी की सूचना पहली बार प्रकाशित की जा रही है। आमेर भंडार* *हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में इस कवि का नामोल्लेख मात्र हुआ है।"* इसके *गुरु ग्रन्थ में ब्रज कवियों की रचनाओं, अन्य कवियों और हिन्दीतर प्रान्तों के*

ब्रजभाषा मे लिखने वाले कवियों का वर्णन है। अन्त मे 'आरम्भिक ब्रजभाषा' का भाषा शास्त्रीय विश्लेषण है और प्राचीन ब्रजभाषा काव्य के उद्गम, स्रोत और विकास तथा प्रमुख काव्यधाराओ का विवेचन है।

शोध ग्रन्थ के विषय की परिधि अनावश्यक रूप से विशाल है। शोध कार्य के निर्देशक विषय को कुछ सीमित रखें तो अनुसन्धान और गहराई से हो। डॉ० शिवप्रसादसिंह को काफी परिश्रम करना पड़ा है जिसके कुछ अश से तो वह बच ही सकते थे। इस विवेचन से भाषा शास्त्र के प्रति हिन्दी विद्वानो की रुचि बढ़ेगी और उन्हें हिन्दी साहित्य का भरा-पूरा इतिहास लिखने की प्रेरणा मिलेगी। पुस्तक का महत्व असदिग्ध है यद्यपि यह महत्व वैसा ही नही है जैसा कि भूमिका मे, आवरण पृष्ठ पर और ग्रन्थ के अनेक पृष्ठो मे विज्ञापित है।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा पर चिन्तन करने की प्रेरणा अनुसन्धानकर्ता को सम्भवत: आचार्य शुक्ल से मिली। (विषय स्वयं उसने न चुना हो तो प्रेरणा उसके निर्देशक को मिली होगी, क्योंकि लेखक ने 'आभार" मे "सन् १९५३ मे गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सन्धान का कार्य मुझे सौंपा" इत्यादि लिखा है।) पुस्तक के आरम्भ में सूर पूर्व ब्रजभाषा-काव्य परम्परा से सम्बन्धित शुक्लजी का एक वाक्य उद्धृत है जिसके अन्तिम अश मे कहा गया है, "सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका मे ब्रजभाषा और उसकी काव्य परम्परा की चर्चा की है। ब्रज, अवधी और खड़ी-बोली की तुलना करते हुए उन्होंने जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन की एक प्रणाली स्थापित की है। उनकी मान्यताओ और तर्कों का विश्लेषण किये बिना न हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखा जा सकता है, न हिन्दी प्रदेश की किसी बोली या भाषा का अध्ययन किया जा सकता है। कठिनाई केवल एक है कि "शुक्लजी का प्रभाव और व्यक्तित्व इतना आच्छादक था कि उनकी इस मान्यता को (कि जैन साहित्य धार्मिक होने के कारण इतिहास से बहिष्कृत रहे) बहुत से विद्वान् आज भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने मे सकोच का अनुभव नहीं करते। शायद ऐसी ही मान्यता से किंचित् रुष्ट होकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है" इत्यादि। रुष्ट हों द्विवेदी जी और उनका फल भोगें डॉ० शिवप्रसाद सिह, यह अनुचित है। फिर द्विवेदी जी स्वर्गीय आचार्य शुक्ल के स्थानापन्न आचार्य है। किंचित् से अधिक रोष भी उन्हें शोभा दे सकता है। नये अनुसधान-कर्ता उनकी नकल क्यो करें?

शुक्लजी के इतिहास मे हम पढ़ते है, "ये ही दो बातें दिखाने के लिए इस इतिहास मे सिद्धों और योगियो का विवरण दिया गया है, उनकी रचनाओ का

जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहं वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतं उन रचनाओ को परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं क सकते। अतः धर्म-सम्बन्धी रचनाओ की चर्चा छोड, अब हम सामान्य साहित्य व जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रहकर्ताओं और रचयिताअ के क्रम से करते है।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने योगियों और सिद्धों के साम्प्रदायि ग्रथों की—जिनका कोई साहित्यिक महत्व न हो—चर्चा करना अनावश्यक समझ है। चर्चा को अनावश्यक बताने पर भी उन्होंने बीस पृष्ठो मे इन सिद्धों औ योगियो के मत का वर्णन किया है और उनकी भाषा का विवेचन किया है सूहिपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि के उद्धरण वज्रयान के प्रेमी पाठव उनके इतिहास मे पढ सकते हैं। ये सिद्धजन जैन नहीं थे, बौद्ध थे। नाथपथी योगी भी जैन नही थे वरन् बौद्ध धर्म से प्रभावित हिन्दू योगी थे। शुक्लजी ने जैन कवियो के साथ किसी विशेष भेदनीति से काम नहीं लिया। इसके विपरीत साम्प्रदायिक शिक्षा ग्रंथों को छोड़कर जब वह सामान्य साहित्य की चर्चा करते हैं, तब सबसे पहले हेमचन्द्र का नाम आता है जिसके लिये उन्होंने लिखा है कि "ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे।" इनके बाद सोमप्रभ सूरि का नाम है; "ये भी एक जैन पंडित थे।" इसी प्रकार 'जैनाचार्य' मेरुतुङ्ग का विवरण है। शुक्लजी से किंचित् रुष्ट होने का कारण उनके इतिहास को जल्दी में पढ़कर कुछ गलत धारणाएँ बना लेना ही हो सकता है।

शोधग्रंथ की भूमिका मे डॉ० द्विवेदी ने लिखा है, "विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है।"

डॉ० शिवप्रसादसिंह ने भी लिखा है, "प० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यप्रदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से ब्रजभाषा-प्रदेश मे वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।"

शुक्लजी ने भक्ति आंदोलन का सम्बंध वल्लभाचार्य के अलावा विद्यापति और जयदेव से जोड़ा है, भागवत मे वर्णित कृष्णलीला को उसका स्रोत माना है, दक्षिण की वर्णयित्री अन्दाल का उल्लेख किया है, "जिसका जन्म संवत् १७७३ में हुआ था।"

शुक्लजी ने वल्लभाचार्य का समय १५३५—१५८७ वि० दिया है। इससे पहले उनके अनुसार रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने (पाँच शताब्दियाँ पहले) ... और उसकी ओर जनता आकर्षित होती

चली आ रही थी।" मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३) ने अपना "द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके।" पन्द्रहवीं शताब्दी में "रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया।" और भी—"भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत काल में ही हो चुका था", वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक स्वरूप का संगठन दक्षिण में हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात वल्लभाचार्य से बहुत पहले माना है। शुक्लजी की यह धारणा भी नहीं है कि ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति की स्थापना सबसे पहले सूरदास ने की। लिखा है, "राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है" इत्यादि।

देखना चाहिए कि शिवप्रसाद जी ने कृष्णभक्ति की परम्परा की किन खोई हुई कड़ियों को ढूँढ निकाला है। उन्होंने सबसे पहले भागवत का उल्लेख किया है जिसका पता ठिकाना हमें शुक्लजी ने भी बताया था। भास के नाटकों में "कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया था।" इससे भास कृष्णभक्त कवि सिद्ध नहीं होते। "शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है।" भक्ति की चर्चा में ये सब उल्लेख अप्रासंगिक है।

अब आइये अपभ्रंश के क्षेत्र में। पुष्पदन्त ने महापुराण लिखा, "जिसमें कृष्ण जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इस ग्रंथ में कृष्ण भक्ति के निश्चित रूप का तो पता नहीं चलता" इत्यादि। शुक्लजी को भी पुष्पदन्त का नाम मालूम था किन्तु उन्होंने भक्ति के प्रसंग में उचित ही उसका नामोल्लेख नहीं किया। पुष्पदन्त के बाद हेमचन्द्र-सकलित अपभ्रंश के "दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण सम्बन्धी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख़याल है कि ये दोहे एतत्-सम्बन्धी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश है।" जब तक वह पूर्ण काव्य-ग्रन्थ सुलभ न हो तब तक कृष्णभक्ति की त्रुटित परम्परा में यह एक ही दोहा हाथ लगता है। इसका भावार्थ समझाते हुए शोधकर्ता ने लिखा है, "हरि को प्रागण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।" इस भावार्थ के अन्तिम अंश का भाव अस्पष्ट है—"जो भावे सो हो"—किन्तु आगे की टिप्पणी स्पष्ट है: "इस पद में राधाकृष्ण के प्रेम का संकेत तो मिलता है किन्तु उस प्रेम को भक्ति संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।" इस तरह यह दोहा भी हाथ से गया। दूसरा दोहा "अवश्य ही स्तुतिमूलक है।" किन्तु दोहा उद्धृत करने के बाद लेखक को पुनः संशय जकड़ लेता है: इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते।" चलिये छोड़िये इसे भी। अब आशा यह रहती है कि ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्ण काव्यों की सूचना तो देते ही हैं, इस तरह का न जाने कितना विपुल

लिखा था कि राधाकृष्ण की प्रेम लीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे और बैजू का यह पद भी उद्धृत किया है।

"मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।"—इत्यादि।

इसके उपरान्त अप्रकाशित काव्यों के रचयिता "विष्णुदास, मेघनाथ आदि कवियों ने कृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध महाभारत, गीता आदि के भावानुवाद किये हैं।" कहना न होगा कि कृष्णभक्ति के कृष्ण और गीता-महाभारत के कृष्ण में थोड़ा अन्तर है।

इसके बाद पूर्ण विश्वास से यह निष्कर्ष घोषित है: "इस प्रकार हमने देखा कि ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा काफी पुरानी है। सूरदास के समय में अचानक कृष्णभक्ति के काव्य का उदय नहीं हुआ और न सूरदास इस प्रकार के प्रथम कवि हैं।" इस निष्कर्ष से शुक्लजी ने हमें पहले ही परिचित करा दिया था; उन्होंने भक्तिकाव्य-परम्परा का जो अनुसन्धान किया था, उसमें डा० शिवप्रसादसिंह ने कुछ कड़ियाँ छोड़ अवश्य दी हैं, नयी एक भी नहीं जोड़ी।

शुक्लजी के विरुद्ध अभियोग यह था कि उन्होंने भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात 'खास तौर से ब्रजभाषा प्रदेश में' वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है। क्या डा० शिवप्रसादसिंह ने ब्रजभाषा क्षेत्र के किसी नये कृष्णभक्त का पता दिया है? न नामदेव ब्रज भूमि के थे, न कबीर। विष्णुदास और मेघनाथ भी ग्वालियर के थे। इस तरह 'खास तौर से' ब्रजभाषा प्रदेश के उस अज्ञात-नाम भक्त-कवियों का पता लगना अभी बाकी है जिनकी जानकारी न होने से शुक्लजी का इतिहास अधूरा रह गया है।

डा० द्विवेदी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि "शिवप्रसादजी ने सूर पूर्व ब्रजभाषा के जैन-काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्व भी दिखाया है।" पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कुछ पंक्तियों से परवर्ती ब्रजभाषा काव्य अर्थात् कृष्ण भक्ति काव्य का सम्बन्ध किस तरह जोड़ा गया है, यह हम ऊपर देख

। जैन काव्य का—हिन्दू काव्य, बौद्ध काव्य, मुस्लिम काव्य की तरह—जो हो, शिवप्रसादजी ने जिन सूरपूर्व जैन कवियों की चर्चा की है, उनका कि से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने शोध ग्रन्थ को पढ़ा न हो, केवल पन्ने पलटे हों, उसके मन में यह धारणा बन सकती है कि जिन अप्रकाशित । का उल्लेख किया गया है, उनसे सूरदास और उनके बाद के भक्त कवियों परा जोड़ी गई है। आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित विद्वानों की सम्मतियों में ता है कि इस ग्रन्थ में "ब्रजभाषा के पुराने साहित्य का धारावाहिक इति-न किया गया है। लेखक ने सूरपूर्व ब्रजभाषा की अप्रकाशित सामग्री विवेचन करते हुए भाषाशास्त्रीय और साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत

जैन ग्रन्थकार हुए हैं।" इनके दव्व-सहाव-पयास (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) का गाथा या साहित्य की प्राकृत' में रूपान्तर किया गया। "इसके पीछे तो जैन कवियों की बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जैसे श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहर-चरिउ, णयकुमार चरिउ इत्यादि। ध्यान देने की बात यह है कि चरित्र-काव्य या आख्यानकाव्य के लिये अधिकतर चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है।" पुष्पदन्त के आदि पुराण और चौपाइयों में लिखे हुए "जसहर-चरिउ" का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी ने यह मत प्रकट किया है, "चौपाई-दोहे की परम्परा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम-कहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्र प्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।" इस प्रकार शुक्लजी ने अवधी और ब्रज के काव्य रूपों का सम्बन्ध भी जैन कवियों की रचनाओं से जोड़ा था।

अब देखना चाहिए, सूरपूर्व काव्य की भाषा के बारे में आचार्य शुक्ल ने कौन से भ्रम फैलाए हैं और नवीन अनुसन्धान ने किस तरह उनका निवारण किया है।

शोध ग्रन्थ को पढ़कर लगता है कि ज्यादातर विद्वानों ने ब्रजभाषा का आरंभ सूरदास से माना है अर्थात् हिन्दी के अधिकांश अन्वेषकों की निगाह में सूरदास अपनी अद्भुत काव्य प्रतिभा के साथ अकस्मात् एक नई भाषा भी लेकर अवतरित हो गए। शुक्लजी को इतना ही श्रेय है कि उन्होंने इस मान्यता पर 'कुछ संकोच और द्विधा व्यक्त की है।' गनीमत है, यहाँ वल्लभाचार्य और भक्ति के सिलसिले की तरह शुक्लजी ने एकदम भ्रान्त धारणा का प्रचार नहीं किया।' 'वे प्रमाणों के अभावों में सूरसागर को ब्रजभाषा की पहली रचना मानने के लिए विवश थे" किन्तु अपने 'प्रबल सत्याभिनिवेश' के कारण उन्हें एक दीर्घ-काव्य-परम्परा की — 'भले ही वह मौखिक रही हो'—कल्पना करनी पड़ी। शोधकर्ता की सहानुभूति सराहनीय है। उसने शुक्लजी की ऐतिहासिक सीमाओं का ध्यान रखते हुए उन्हें एक काव्य-परम्परा की कल्पना करने के लिए बधाई दी है। फिर भी शुक्लजी ने अपभ्रंश और वीरगाथाकाल, 'दोनों ही युगों के साहित्य पर अपेक्षाकृत बाद में विचार किया है।' शुक्लजी ने अपने इतिहास में विभिन्न धाराओं का विवेचन किया, साथ ही उनकी भाषा की छानबीन करना भी उनके उद्देश्य से सम्बद्ध था। "यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास पर्याप्त अवकाश और साधन न था।' विशेष रूप से निर्गुण सन्त काव्य के प्रति 'उनके हृदय में स्पन्दन नहीं था।' इसलिए सन्तों की भाषा के प्रति भी उन्होंने बहुत आग्रह ... 'सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी नाम देकर शुक्लजी आगे बढ़ ... कोई 'सोच-विचार किया' भी निष्कर्ष कि वास्तव में काव्य-भाषा का ... जब का था, भाषाविदों ने प्रायः सधुक्कड़ी भाषा का ... शोधकर्ता को स्वीकार करना पड़ा है कि शुक्लजी के अनुसार

हिन्दू भक्तों ने ब्रजभाषा का व्यवहार किया था, इसलिए वैसा कहकर यह दावा करना है कि डॉ० शुक्लजी को [illegible] की भाषा पर आपत्ति क्यों हुआ? 'इस काल का साम्प्रदायिक साहित्य जो [illegible] के आख्यान को दृष्टि से बहुमूल्य है ही' । लेकिन शुक्लजी को इस साम्प्रदायिक साहित्य का पता न था। और इसके लिए श्रम किया, लेकिन 'साम्प्रदायिक साहित्य में [illegible] से लेकर [illegible] की रचनाओं को देखने का भी यदि कष्ट करते तो उन्हें मालूम होता कि '[illegible] ने भी अधिक रचनाएँ ब्रजभाषा की हैं।' इन कवियों की भाषा के बारे में शुक्लजी और डा० सिंह की मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन काफी रोचक होगा।

सबसे पहले खुसरो को लीजिए। 'खुसरो की भाषा का पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सही विश्लेषण किया है।' ये शब्द डा० शिवप्रसादसिंह के ही हैं। उनके आगम्य विस्तृत, परम वैज्ञानिक विवेचन का परिणाम नहीं है जिसे शुक्लजी पहले लिख गए थे। बचाव का कोई रास्ता नहीं है। शुक्लजी ने स्पष्ट लिखा है कि 'खुसरो के गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्य भाषा ही है।' आपने पूज्य आचार्य के विश्लेषण को सही होने का सर्टिफिकेट दिया, इसके लिए हार्दिक धन्यवाद!

अब लीजिए कबीर की भाषा को। डा० सिंह ने शुक्लजी का यह कथन उद्धृत किया है कि कबीर ने दो तरह की भाषा लिखी है; उनके दोनों में ब्रजभाषा का व्यवहार किया गया है, कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी। खुसरो और कबीर द्वारा ब्रजभाषा के प्रयोग के बारे में शुक्लजी ने लिखा है, 'इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिए काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी।' डा० सिंह का निष्कर्ष है कि कबीर ने जहाँ आत्मनिवेदन, आत्मा-परमात्मा-मिलन के गीत गाए हैं, वहाँ 'उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है।' शुक्लजी के विश्लेषण को सही होने का सर्टिफिकेट न देकर भी उसे अपने ही शब्दों में दोहरा दिया गया है। इसके लिए भी बधाई।

अब गुरु नानक को लीजिए। 'शुक्लजी ने नानक की भाषा पर निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है।' लेखक ने यह नहीं बताया कि शुक्लजी का निर्णय कम ठीक कहाँ पर है। फिर भी उसने शुक्लजी का अनुसरण किया है, इसके लिए पुनः बधाई। शुक्लजी ने गुरु नानक के हिन्दी पदों की भाषा के बारे में लिखा था, 'यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्य-भाषा या ब्रज भाषा है, कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर-उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं।' इससे फिर प्रकट होता है कि शुक्लजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य-परम्परा के अस्तित्व पर बराबर ज़ोर दिया है।

मीरा की भाषा के बारे में अनेक मत हैं। डा० शिवप्रसादसिंह ने स्पृहणीय उदारता के आवेश में लिखा है, 'मैं इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल के निष्कर्ष [illegible]

ही उचित मानता हूँ कि उनके पद दो प्रकार की भाषा मे लिखे गए थे।' राजस्थानी और ब्रज।' पुनः-पुनः धन्यवाद। स्वर्गीय आचार्य कृतार्थ हुए। यह वही शुक्लजी हैं जो सन्तों की भाषा को सधुक्कडी नाम देकर आगे बढ गए थे। बहुत सोच-विचारकर कुछ लिखा भी था तो यही कि काव्य-भाषा का ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था! कितने आश्चर्य की बात है कि खुसरो, कबीर, नानक, मीरा आदि की भाषा के बारे मे उन्ही शुक्लजी का मत दोहराया जाता है और मुख-मण्डल पर कही लज्जा की लालिमा झलकती नही, न कर-कमलो मे कही लेखनी ही कम्पित होती है! वास्तव मे आश्चर्य की बात कुछ नही है। ये पी-एच० डी०, डी० लिट्० आदि डिग्रियाँ प्राप्त करने के गुर हैं। स्वर्गीय आचार्य से ईषत् रुष्ट वर्तमान प्राचार्य सन्तुष्ट हो जाएँ। गाँठ में कुछ न होने पर माल भी स्वर्गीय आचार्य की ड्योढी से ही उड़ाया जाय। सिद्धों की परम्परा की यह भी एक सिद्धि है!

अनेक विद्वानो ने ब्रजभाषा के विकास और उसकी व्याकरणिक विशेषताओ पर विचार किया है। इनमें आचार्य शुक्ल भी हैं। डा० शिवप्रसाद ने शुक्लजी की बुद्धचरित की भूमिका और रत्नाकरकृत बिहारी रत्नाकर का एकसाथ उल्लेख करते हुए यह मत प्रकट किया है कि 'इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता।' शुक्लजी ने कौन सी अवैज्ञानिक बातें लिखी हैं, इनका उल्लेख करना श्री सिंह ने उचित और आवश्यक नही समझा। शुक्लजी का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध ही क्या? एक छोटा-सा वाक्य उन्हे और उनके विवेचन को उड़ा देने के लिए क्या पर्याप्त नही है?

यहाँ भी डा० सिंह के भाषा शास्त्रीय विवेचन से शुक्लजी की स्थापनाओ की तुलना दिलचस्प होगी। पहले ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका लीजिए। डा० सिंह कहते हैं, 'हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणो की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं।' 'बुद्धचरित' की भूमिका में इन्ही हेमचन्द्र के दोहों को उद्धृत करने के बाद शुक्लजी ने लिखा था, "इन पद्यों मे हम ब्रजभाषा के भूतकाल और पु० कर्ता और कर्मकारक के रूपों के बीज पाते हैं।" 'क्रिया के पुरुष काल-वर्जित साधारण रूप भी' मौजूद हैं। 'संज्ञा के बहुवचन रूप भी हैं जो अवधी आदि पूरवी भाषाओ मे बिना कारक चिह्न लगे नहीं होते।' शुक्लजी का निष्कर्ष है, 'काव्य की यह भाषा बहुत प्राचीनकाल में बन चुकी थी। यह हिन्दी की काव्य भाषा का पूर्व रूप है। ढाँचा पश्चिमी होने पर भी यह काव्य की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था।' डा० सिंह से पहले शुक्लजी को पता था कि हेमचन्द्र के दोहों में ब्रजभाषा की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। उसका प्रचार सारे उत्तरापथ था, यह भी उन्हें मालूम था। डा० सिंह [illegible] है, हेमचन्द्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का सारे उत्तर

ा० द्विवेदी के अनुसार डा० सिंह ने 'प्राकृत पैंगलम्, पृथ्वीराजरासो और औक्तिक
यो में प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा के विभिन्न स्वरूपों का बहुत अच्छा विवेचन
या है।' इस वाक्य से मालूम होता है कि औक्तिक ग्रन्थों में ब्रजभाषा का ही
ोग किया गया था किन्तु डा० सिंह पृष्ठ ७ पर लिखते हैं, "इस प्रकार के ग्रन्थो
तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिए हुए हैं। इनमे से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति
बोली का ग्रन्थ नही है।" अर्थात् जिनमें ब्रजभाषा का प्रयोग नही हुआ। डा०
वेदी ने उन ग्रन्थो में भी ब्रजभाषा के व्यवहार का पता लगाने का श्रेय अपने
य को दिया है, जहाँ उसके व्यवहार को डा० सिंह स्वय लापता समझते हैं। इस
र का अन्तर्विरोध गुरु-शिष्य की स्थापनाओं में नही है, शिष्य की अपनी
पनाओं मे भी है। पृष्ठ ७ पर कहा गया है कि इनमे तत्कालीन बोलियो के
करण दिए हुए हैं। पृ० १० पर कहा गया है "वैसे,नव्य भारतीय आर्यभाषाओ
स्वरूप बोध करानेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, किन्तु इनमे किसी
चत भाषा का पता नही चलता।" यदि किसी निश्चित भाषा का पता नही
यह कैसे मालूम हुआ कि इनमे तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिए हुए हैं ?
पुनः पृ० १२४ पर कहा गया है कि इन्ही औक्तिक ग्रथो मे मध्यदेश और
थान की बोलियाँ हैं !

ब्रजभाषा का निर्माण कब हुआ ? पृष्ठ ८ पर 'विक्रमान्त १४०० तक ब्रज-
का एक स्पष्ट रूप निर्मित हो चुका था।' आगे चलकर पृष्ठ १८४ पर
ा गया है कि '१५वीं शती का समय हिन्दी का सक्रान्तिकाल था।' इस समय
खड़ी बोली और अवधी 'अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे थी।' आश्चर्य की
कि १४वीं शती मे व्यवस्थित होने के बाद ब्रजभाषा १५वी शती मे पुनः
मक अवस्था मे आ गई।! पृ० २६० पर सूचित किया गया है कि 'ब्रज-
मे कृष्णकाव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ
शताब्दी तक तो मानना ही पडता है।' १५वी शती मे जिस भाषा की
क अवस्था थी, उसमे कृष्णकाव्य की परम्परा तीन सौ साल पहले से चली
थी। यही नही, प्रारम्भिक अवस्था से तीन सौ साल पहले ब्रज और खड़ी
के सघर्ष का आरम्भ भी हो गया था। 'खडी बोली की विजय कविता की
रूप १९वीं शताब्दी की घटना है किन्तु ब्रज मे उसका युद्ध बहुत पुराना
वीं शताब्दी के संक्रान्तिकाल में इस सघर्ष का आरम्भ हुआ।' (पृ० १३८)
डी बोली के लिए कहा गया है कि दिल्ली के आसपास की बोली होने के
समे 'मुसलमानी काल मे बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला।' (पृ० १३३)
पर यह भी लिखा है कि 'खड़ी बोली हिन्दी १६वीं शताब्दी तक गँवारों
समझी जाती रही और यदि मुसलमान शासक खडी बोली को प्रोत्साहन
ते थे तो ब्रजभाषा को संगीत के क्षेत्र में क्यों अपनाते थे ? ये सब भाषा-

सम्बन्धी मान्यताएँ तथ्यों की छानबीन करके निश्चित नहीं की गईं। ऐस
है कि ऋषियों के मंत्रों की तरह उल्लास के क्षणों में उन्होंने शोधक को द
हैं। ऋषियों के प्रसंग में उनकी भाषा से सम्बन्धित यह वाक्य भी उल्लेख
'ऋग्वैदिक भाषा आश्चर्यजनक रूप से पूर्वी ईरान और अफ़गानिस्तान में
तत्कालीन कबीलों की बोली से साम्य रखती है।' (पृष्ठ १८) ईरान औ
गानिस्तान के तत्कालीन कबीलों की बोलियों के नमूने कहाँ प्राप्त हुए
ऋग्वेद की भाषा की तुलना किसने और कहाँ की है? इन सब प्रश्नों का
उत्तर है, इलहाम!

दो शब्द अप्रकाशित ग्रन्थों की तिथि-सम्वत् के बारे में। डा० शिवप्रसा
ने जिस तरह ब्रजभाषा के व्यवस्थित और प्रारम्भिक रूपों का काल
किया है, उससे ग्रन्थों के रचनाकाल के बारे में उनके मत पर स्वा
सन्देह होने लगता है। प्रद्युम्न चरित की विभिन्न प्रतियों में संवत्
अलग दिए हुए हैं। जिस प्रति के आधार पर डा० सिंह ने उसका रचना
संवत् १४११ बताया है, उसके संवत् को श्री अगरचन्द नाहटा ने अग्राह्य
है किन्तु डा० हीरालाल ने सही ठहराया है। नाहटा जी का कहना है कि प्र
संवतों की अन्यों को देखा गया तो ग्रन्थ में दी हुई तिथियों में षष्ठी पंचमी,
पंचमी और नवमी तीनों दिन शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता।
प्रकार कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा में उल्लिखित संवत्, ति
दिवस और नक्षत्रों की जाँच होनी चाहिए। शोधकर्ता ने यह जाँच नहीं
दूसरे ने जाँच की हो तो वह उसका उल्लेख भरकर देता है, न की हो तो
मूँदकर उसे स्वीकार कर लेता है। 'डूंगर बावनी' की रचना का संवत् विश
के साथ १५३८ लिखा गया है। उसके बाद के ही वाक्य में यह सूचना दी गई
'तिथिकाल का जो संकेत कवि करता है, उसका अर्थ १५४८ भी हो सकता है
कवि ठक्कुरसी की पंचेंद्रिय बेलि में जो समय दिया गया है, उसके अनुसार लेख
ने उसे संवत् १५५० की रचना माना है किन्तु पुस्तक से यह उद्धरण भी दि
गया है, 'इति श्री पंचेंद्रिय समाप्त। संवत् १६८८ आसोज वदि दूज, गुरुवा
लिखितम् जोलावारसी आगरा मध्ये।' पुस्तक संवत् १५५० में लिखी गई
१६८८ में? या पुस्तक की रचना १५५० में हुई और कवि ने १३८ वर्ष (५
+८८) बाद उसकी प्रतिलिपि की या अन्य किसी ने उसकी प्रतिलिपि की
अन्य किसी ने उसकी नकल की? इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर शोधग्रंथ
नहीं है।

अस्तु! शोधग्रंथ की मूल स्थापनाएँ दो हैं: 'सूरपूर्व काव्य में पद्रों शैली
परम्परा स्थापित हो चुकी थी; सूरपूर्व काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग होता था

चार्य शुक्ल पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने इन दोनों तथ्यों को उपेक्षि-
किया है या उन पर ध्यान नहीं दिया। वास्तविकता यह है कि न तो शुक्ल-
ने भक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य से माना था, न सूरदास के साथ ही व्रज-
के प्रकट होने की कल्पना की थी। उन्होंने बार-बार भक्ति और व्रजभाषा
, दोनों की सुदूरपूर्व परम्परा पर जोर दिया था। डा० शिवप्रसादसिंह ने एक
शुक्लजी के मत को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे उनके अनुसंधान की
नता सिद्ध हो; दूसरी ओर भक्ति और भाषा—दोनों ही की पुरानी कड़ियों-
हुए उन्होंने शुक्लजी की ही स्थापनाओं को दोहराया है और इस दोहराने में
एकांगी और असंतुलित दृष्टिकोण के कारण उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण स्थाप-
ओं को छोड़ भी दिया है।

शायद थीसिस लिखने के लिए यह आवश्यक होता है कि पूर्वाचार्यों के कार्य
हीन सिद्ध किया जाय और अपने अनुसन्धान की मौलिकता को बढ़ा-चढ़ा कर
या जाय। उपाधि प्राप्त करने के लिए परीक्षकों पर यों रोब जमाया जाय
म्य है लेकिन थीसिस प्रकाशित करते समय ऐसे अंश निकाल देने चाहिये।
शुक्लजी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। वह अपने युग के श्रेष्ठ
शोधक थे, और इस थीसिस-युग के भी हैं। शिष्टता का तकाजा है कि कम
कम वे लोग उन पर व्यर्थ आक्षेप न करें जो मौलिक अनुसंधान का दावा
ते हुए उन्हीं की स्थापनाओं को दोहराते हैं। डा० शिवप्रसादसिंह में
श्रम करने की क्षमता है किन्तु वे अकारण ही महत्त्वकांक्षा से पीड़ित हो
इसका दोष विश्वविद्यालयों के उस वातावरण को है जहाँ अनेक आचार्य
लजी के आच्छादक व्यक्तित्व को हटते न देखकर उन्हें बार-बार ढकेलने
प्रयास करते देखे जाते हैं। चाहिए तो यह कि पुराने आचार्यों की देन को
हम उनके सदृश हों—कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करें। जहाँ नया अनु-
न करें उसकी चर्चा भी नम्रता से करें। इसके विपरीत इस ग्रन्थ में शुक्लजी
भी भूल बताई गई है और उन आचार्यों की स्तुति की गई है जो शोधकर्ता
निर्देशक थे या आगे उसके परीक्षक हो सकते थे। इस मनोवृत्ति को बढ़ावा देने
के अपराधी लोग ही हैं जो शुक्ल जी के समान आदर और सम्मान न पाने से
ईर्ष्यालु व्यक्तियों से स्पष्ट है। नये अनुसन्धानकर्ताओं को इनके रचे हुए दूषित वाता-
रण से बचना चाहिए।